THE

VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA

82

THE BUDDHA CHARITA

of

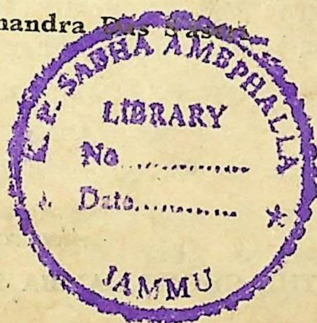
MAHĀKAVI AS'VA GHOS'A

(Part I. Cantos. I–XIV)

EDITED WITH THE PRAKĀS'A HINDĪ COMMENTARY

By

Mahanta S'rī Rāmchandra Dās S'āstrī



THE

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI-1

1966

Donated by
B.N. Bhan
Gen. Secy.
16-5-83

प्राक्कथन

संसार परिवर्तनशील है। प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है। सामान्य परिवर्तन प्रकृति ही करती रहती है। देश और कालरूप अधिष्ठान में 'अग्नि, जल एवं वायु'—ये तीनों वस्तु को बदलते रहते हैं। अग्नि गरमी देती है। जल तर्पण करता है। वायु स्फुरण देती है। इससे वस्तु की उत्पत्ति होती है। फिर अग्नि जलाती है, जल सड़ाता है और वायु शोषण करती है। इससे वस्तु का विनाश होता है। उत्पत्ति से विनाश तक की क्रियाओं में जो समय लगता है, वही स्थिति है। इस प्रकार उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का चक्र चल रहा है। यह चक्र कब से चला है? कब तक चलेगा? यह कहा नहीं जा सकता। यह अनादि है। अनन्त है।

इस सामान्य परिवर्तन की अपेक्षा एक विशेष परिवर्तन भी होता है। वह है—'आचार-विचार का परिवर्तन'। यह परिवर्तन प्रायः मनुष्यों में ही होता है। मनुष्य अन्य प्राणियों की अपेक्षा सर्वाधिक चेतन है। इसमें विचार की धारा प्रवाहित होती रहती है। संसार के सम्बन्ध में यह विचार करता है। विचार अनेक प्रकार के होते हैं। संसार क्या है? कब से बना है? किस लिये बना है? इसका रचयिता कोई है अथवा यह अपने आप बनता है? इत्यादि अनेक प्रश्न उठते हैं। इनका समाधान सामान्य मनुष्य नहीं कर सकता। दुरूह विषय होने के कारण बुद्धि थक जाती है। विचार रुक जाता है। अगत्या मनुष्य भोगाभिमुख हो जाता है। इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति बहिर्मुखी है। उच्च विचारकों की प्रवृत्ति भी भोगाभिमुख हो जाती है। तब भोग को समर्थन मिल जाता है। आचार भी लुप्त हो जाते हैं। संसार भोग-प्रधान बन जाता है।

भोग में अनेक दोष हैं। अधिक से अधिक मिलने पर भी अपूर्ण ही बना रहता है। इसकी सीमा नहीं है। रोग, शोक आदि तो उसके तात्कालिक फल

हैं। सबसे बड़ा दोष तो यह है कि दुर्बलों को सताये बिना भोग प्राप्त नहीं होता। जब संसार भोग-प्रधान होता है तब सबल मनुष्य दुर्बलों को सता कर अपना सुख सम्पादन करने लगते हैं। हिंसा, मिथ्या, छल, कपट और पाखण्ड का साम्राज्य हो जाता है। उस समय दुर्बलों का जीवन भय एवं आतङ्क से नरक तुल्य हो जाता है। सबल भी सुखी नहीं रह पाते। उनमें काम-क्रोध की अधिकता से हिंसा की प्रधानता हो जाती है। क्रूरता, तृष्णा तथा अभिमान बढ़ जाते हैं। सहस्रों आशा-पाश में बँधकर उन्मार्गी हो जाते हैं। उस समय प्राणी की तो बात छोड़ें; समष्टि प्राण ही संकटापन्न हो जाता है। चारों ओर हाहाकार मच जाता है। त्राण पाने के लिये समष्टि अन्त:करण दीन पुकार करने लगता है। तब महान् क्रान्तिकारी परिवर्तन की आवश्यकता होती है। उसमें प्रकृति का वश नहीं चलता। ऐसे अवसर पर ही एक दिव्य पुरुष का प्रादुर्भाव होता है। वे अपने अलौकिक प्रभाव से मनुष्यों के आचार-विचार में आमूल परिवर्तन करते हैं तब संसार सुख की साँस लेता है।

इतिहास साक्षी है। दो-ढाई हजार वर्ष के बाद ऐसे दिव्य पुरुषों का आविर्भाव होता रहता है। राम के बाद कृष्ण और कृष्ण के बाद बुद्ध हुए। ये लोक-विलक्षण पुरुष, ढाई-ढाई हजार वर्ष के अन्तर देकर एक के बाद एक होते आये हैं। ये दिव्य विभूतियाँ प्रकट होकर जब जैसी आवश्यकता पड़ती है, वैसा परिवर्तन करती हैं। तब हजारों वर्ष तक मानव-जीवन सुख और शान्ति का अनुभव करता है।

ऐसे ही संक्रामक काल में भगवान् बुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ है। उस समय भी महान् परिवर्तन की अपेक्षा थी। लोग भोग-लोलुप, हिंसापरायण एवं क्रूर-कर्मा हो गये थे। पशु की बात दूर रही, मनुष्य ही मनुष्य की बलि देता था। नर-बलि शास्त्र विहित एवं राज-समर्थित हो गई थी। स्वर्ग-सुख की अन्धकल्पना से प्रेरित होकर बलपूर्वक सहस्रों असहाय नर कल्पित देवी-देवताओं के भोज्य बनाये जाते थे। कुछ नियमित सुन्दर युवा नर-बलि देने पर स्वर्ग में इन्द्र बनने का विश्वास रूढ़ हो गया था। स्वर्ग-प्राप्ति का दूसरा साधन तप माना जाता था। कुछ लोग घर छोड़कर निर्जन वन में जाकर घोर तामसी तप करते

थे । अन्न-जल सर्वथा छोड़कर शरीर सुखा देते थे । अग्नि, जल, भृगुपात से शरीर त्याग कर सीधे स्वर्ग की प्राप्ति मानी जाती थी । लौकिक सुख अपूर्ण है, स्वर्गीय सुख ही पूर्ण है, जीवात्मा स्वर्ग में जाकर अक्षय भोग भोगता है—इस प्रकार भोग की तीव्र लालसा की प्रबल प्रेरणा से लोग मिथ्याचार, मोघ विचार के हो गये थे । भगवान् बुद्ध ने तप और त्याग का तथा भोग का यथार्थ भेद बताया, तप और भोग की अपेक्षा मध्यम मार्ग श्रेष्ठ बताया, मनुष्य का सन्मार्ग में चल कर प्राणीमात्र का हित करना कर्त्तव्य बताया तथा 'सर्वजनसुखाय, सर्वजनहिताय' इस महामंत्र का उद्घोष किया ।

जैसे भगवान् राम के चरित्रों एवं उपदेशों का महर्षि वाल्मीकि ने सुललित संगीतमय काव्य के द्वारा स्थायी प्रचार किया है अथवा जैसे भगवान् कृष्ण के चरित्रों तथा उपदेशों को महामुनि व्यास ने महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि दिव्य ग्रन्थों द्वारा विश्व-साहित्य के रूप में संपादित किया है, उसी प्रकार महाकवि अश्वघोष ने भगवान् बुद्ध के लोकोत्तर चरित्रों एवं उपदेशों का 'बुद्धचरित' नामक महाकाव्य में सम्पादन किया है । जैसे वायु चन्दन की सुगन्धि को दिशाओं में फैलाता है, उसी प्रकार अश्वघोष ने भगवान् का उज्ज्वल यश फैलाया है । काव्य-कला उनका सहज स्वभाव है । उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है । अश्वघोष पुराण के महापंडित हैं । रामायण, महाभारत के प्रकाण्ड विद्वान् हैं । वैदिक साहित्य के मर्मज्ञ एवं दर्शन के तत्त्ववेत्ता हैं । उन्होंने अपने महाकाव्य में भगवान् बुद्ध के चरित्र का सजीव चित्र खींचा है । उनके प्रसादगुण प्रधान काव्य को पढ़ते ही पाठक के नेत्रों के सामने भगवान् बुद्ध का चरित्र साकार हो उठता है ।

'बुद्धचरित' दो भागों में था । प्रथम भाग में जन्म से बुद्धत्व प्राप्ति तक का वर्णन है । इसमें चौदह सर्ग हैं । प्रथम भाग अश्वघोष कृत मूल सम्पूर्ण उपलब्ध है । केवल प्रथम सर्ग के प्रारम्भ के ७ श्लोक और चतुर्दश सर्ग के ३२ से ११२ तक (८१ श्लोक) मूल नहीं मिलते हैं । बाबू श्रीजयकृष्णदास जी गुप्त, अध्यक्ष चौखम्बा संस्कृत सीरीज तथा चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी की प्रेरणा से उन श्लोकों को मैंने बनाया है तथा उन्हीं की प्रेरणा से इस भाग की टीका भी की गई है ।

द्वितीय भाग की मूल प्रति भारत में बहुत दिनों से अनुपलब्ध है। उसका अनुवाद तिब्बती भाषा में मिला था। उसके आधार पर किसी चीनी विद्वान् ने चीनी भाषा में अनुवाद किया तथा आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के संस्कृत के अध्यापक डाक्टर जॉन्सटन ने उसे अंग्रेजी में लिखा। इसका अनुवाद श्री सूर्यनारायण जी चौधरी ने हिन्दी में किया है जिसको मैंने श्रीयुत व्योहार राजेन्द्र सिंह जी की प्रेरणा से संस्कृत पद्यमय काव्य रूप में परिणत किया है। अश्वघोष प्रतिभावान् महाकवि थे। उनके समान रस तो इसमें नहीं आया है किन्तु उनका भाव यथासंभव लाने का प्रयत्न किया गया है। इस कार्य में मुझे कहाँ तक सफलता मिली है, यह तो पाठकगण ही समझेंगे।

श्री हृषीकेश जी पांडे का मैं बड़ा कृतज्ञ हूँ जिन्होंने सुवाच्य अक्षरों में इसे लिपिबद्ध करके प्रेस में छपने योग्य किया।

—रामचन्द्र दास

भूमिका

भगवान् बुद्ध का दिव्य संदेश

भगवान् बुद्ध का जन्म ५६७ ईसापूर्व अर्थात् आज से २५०० वर्ष पूर्व हुआ था। इतने दिनों बाद आज कहीं संसार उनके उपदेशों का महत्व समझ रहा है। वैसे तो सम्पूर्ण भारतवर्ष में एक बार बौद्धधर्म का प्रचार हो गया था। किन्तु एक समय आया कि जब उसी भारतवर्ष में बौद्धों का नाम-निशान भी नहीं रहा। इसके कई कारण बतलाये जाते हैं। बौद्धों द्वारा वेदों की प्रामाणिकता को अमान्य करना, ब्रह्मवाद या ईश्वरवाद को न मानना तथा वर्णभेद का विरोध करना आदि इनके मुख्य कारण माने जाते हैं। किन्तु असली कारण स्वयं बौद्धों के बीच उत्पन्न हुए मतभेद और अनाचार ही समझना चाहिये।

भारत में वेदों के प्रति इतना आदर रहा है कि उनके प्रति किसी प्रकार का निरादर यहाँ की जनता सहन नहीं कर सकी। वेदप्रमाण हमारे धर्म का मूलाधार रहा है। उनके अर्थ के संबंध में चाहे कितना ही मतभेद क्यों न रहा हो; किन्तु उसकी प्रामाणिकता और अपौरुषेयता के संबध में सभी में एकमत रहा है। वेदों के आधार पर कर्मकाण्ड का प्रचार तथा उसमें भी हिंसा आदि का प्रयोग होना उपनिषद्काल से ही बुद्धिवादियों को खटक रहा था। वे लोग कर्म-काण्ड के स्थान पर ज्ञानकाण्ड के उपासक होते जा रहे थे और यह आवाज उठने लगी थी कि इस प्रकार के यज्ञादि अब जर्जर नाव के समान हो गये हैं—प्लवा ह्येता अदृढा यज्ञरूपाः।

लोगों में यह भावना उठने लगी थी कि यज्ञों में प्राप्त होने वाले पार्थिव भोगों, यहाँ तक कि स्वर्ग आदि भोगों से भी आत्मायें तृप्त नहीं हो सकतीं। कठोपनिषद् के यम और नचिकेता के सवाद में इसी भावना का उद्घोष हमें मिलता है। नचिकेता कहता है कि इस धनसम्पत्ति और सांसारिक भोग पदार्थों से मेरी आत्मा नहीं शान्त होने की। यह सब असार हैं। मुझे ऐसा पदार्थ चाहिये जिससे मुझे अमृत की प्राप्ति हो सके।

इसी प्रकार मैत्रेयी भी याज्ञवल्क्य से कह उठती है कि जिनसे मैं अमर नहीं हो सकती उन पदार्थों को लेकर क्या करूँगी :—

'येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम् ।'

वैसे तो प्रवृत्ति और निवृत्ति ये दो भावनायें मनुष्य के हृदय में सदा से रही हैं। एक में भोग और ऐश्वर्य को लालसा और दूसरी मे सुख और शांति की अभिलाषा का स्वर प्रधान रहा हैं। उनके अनुसार पहले में यज्ञ-याग आदि के द्वारा देवता से सुख-सामग्री की याचना और दूसरे में आत्मतृप्ति और आत्म-त्याग व तपस्या की साधना—यही दो मार्ग युग की प्रवृत्ति के अनुरूप बढ़ते-घटते चले आये हैं। वेदों में पहला मार्ग और उपनिषदों में दूसरी भावना प्रधान रही। उनकी अपेक्षा गीता में वेदों के प्रति असन्तोष का स्वर और भी प्रबल हो उठा। उसमें त्रिगुणात्मक वेदों से ऊपर उठने का आग्रह किया गया है :—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।

उनके साधन रूप यज्ञों की स्पष्ट निन्दा तो उसमें नहीं की गई किन्तु उनका रूप बदल दिया गया है। यज्ञ के सिद्धांत का समर्थन करते हुए भी उसमें द्रव्ययज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ को महत्व दिया गया है और दान, तप, स्वाध्याय आदि अनेकों आत्मशुद्धि कारक कर्मों की प्रशंसा की गई है।

इस निवृत्ति मार्ग में भी अनेक दोष उत्पन्न हो गये। कर्म की अपेक्षा संन्यास को महत्व देने के कारण गृहस्थधर्म का एक प्रकार से उच्छेद सा हो गया। बौद्धधर्म का भी इसमें बहुत बड़ा हाथ रहा। इसलिये उसके प्रति भी लोगों के मन में अनादर होना स्वाभाविक था। गृहस्थ-धर्म के शिथिल होने से समाज में अनाचार और व्यभिचार होना स्वाभाविक था। यह भी बौद्धधर्म के पतन का एक कारण था।

दूसरा कारण ब्रह्मवाद या ईश्वरवाद का विरोध करना था। ईश्वर भावना आर्य जाति के हृदय में इतनी प्रबल थी कि उसका विरोध किसी प्रकार सहन नहीं किया जा सकता था। जैन आदि मतों ने प्रारम्भिक काल में उसका विरोध अवश्य किया किन्तु बाद में उन्हें भी उसे स्वीकार करना पड़ा। बुद्ध भगवान् ने आत्मवाद के संबंध में एक प्रकार से उदासीनता और तटस्थता

का ही मार्ग स्वीकार किया था। कथा है कि बच्चगोत नामक भिक्षु ने भगवान् बुद्ध से पूछा—आत्मा के अस्तित्व के विषय में आपकी क्या राय है ? इसके उत्तर में भगवान् बुद्ध मौन रहे। फिर भिक्षु ने पूछा—तो क्या आत्मा नहीं है ? इसके उत्तर में भी बुद्ध मौन रहे। उसके बाद भी भिक्षु ने प्रश्नोत्तर न पाकर प्रस्थान किया। तब भगवान् के परम शिष्य आनन्द ने उनसे पूछा—भगवान् ने बच्चगोत के प्रश्न का उत्तर क्यों नहीं दिया ? भगवान् बुद्ध ने कहा—यदि मैं आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता तो मैं श्रमणों और ब्राह्मणों में प्रचलित आत्मा के अमरत्व का समर्थन करता और यदि मैं उससे इनकार करता तो भी उनके निर्वाण के सिद्धांत का समर्थन करता। इसलिये मैंने आत्मा के विषय में चुप रहना ही ठीक समझा। कुछ भी उत्तर देने पर उसे एक प्रश्न से निकालकर दूसरे भ्रम में डालने के समान ही होता।

बात असल यह थी कि ब्रह्म और आत्मा के संबंध में इतना अधिक विवेचन हो चुका था कि बुद्ध ने उस संबंध में ऊहापोह करना निरर्थक समझा। उनका लक्ष्य शांति और आनन्द प्राप्त करना ही था। अश्वघोष ने तो उनसे कहलाया है कि मैं अमृत प्राप्ति के लिये घर से जा रहा हूँ।

अमृतं प्राप्तुमितोद्य मे यियासा।

बुद्ध भगवान् आत्मा और परमात्मा के विषय में पूछे जाने पर जो चुप्पी धारण कर लिया करते थे इसके संबंध में लोग अलग-अलग अर्थ लगाते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि वे आत्मा के अस्तित्व को ही मानते थे और कुछ कहते हैं कि उन्होंने आत्मिक विषयों के संबंध में कुछ न कहकर केवल क्रियात्मक बातों पर ही जोर दिया। कुछ लोगों का कथन है कि आत्मा परमात्मा के संबंध में इतने मतमतान्तर उत्पन्न हो गये थे कि उन्होने अपनी ओर से कुछ कह कर उन मतों में एक नया मत जोड़ना ठीक नहीं समझा।

असल में आत्मा के विषय में कुछ न कहना ही उसके अस्तित्व को स्वीकार करना है। जिस बात को स्वीकार करना होता, उस संबंध में वे मौन रह जाते थे। इसका उल्लेख बौद्ध जातकों में बराबर आता है। आत्मा के संबंध में उपनिषदों में भी नेति नेति कहकर यह स्वीकार किया है कि वह

अनिर्वचनीय है। अतः उसके संबंध में कुछ न कहना ही सबसे अच्छा उपाय है। उपनिषद् में एक जगह कहा है :—

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥

इस प्रकार परस्पर विरोधी विशेषणों के द्वारा ही आत्मा का निर्देश किया जा सकता है।

अपने शिष्यों से उन्होंने बार-बार कहा था :—'भिक्षुओ तथागत के लिये दो बातें सदा बिना कही रह जायेंगी—आत्म और अनात्म।' असल में उनका सारा लक्ष्य इसी बात पर था कि संसार से दुःख की निवृत्ति किस तरह की जावे। अतः आत्मा अनात्मा के तात्विक विवेचन में न पड़कर सीधे दुःख की मूल समस्या को ही वे सुलझाना चाहते थे।

दुःख को उन्होंने चार विभागों में बाँट दिया है :—

(१) दुःख (२) दुःख की उत्पत्ति
(३) दुःख-निवृत्ति (४) दुःख-निवृत्ति के उपाय

दुःखं दुक्ख समुप्पादं दुःखस्य च अतिक्कमं।
अरियं चट्ठंगिकं मग्गं दुक्खूपसमगामिनम् ॥

दुःख कितने प्रकार के हैं इसका भी विस्तार दिया गया है......जन्म, जरा, मरण, शोक-परिदेव, दौर्मनस्य, दुक्खं, उषापात, अप्रिय के साथ संयोग, प्रिय से वियोग, इच्छित वस्तु का अलाभ और अनिच्छित वस्तु का लाभ—ये सब दुःख हैं।

गीता में एक ही पंक्ति में कह दिया गया है :—

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्।

बुद्ध भगवान् के जीवन में ये सब दुःख मानों रूप धारण कर आये थे। बुद्धचरित में वर्णन है कि देवों ने उनको रचकर सामने खड़ा कर दिया। जब वे नगरपरिक्रमा के लिये निकले तब पहले व्याधित पुरुष सामने आया, फिर वृद्ध और अन्त में मृत पुरुष। जब साधु ने यह बताया कि ये दशायें सभी की होती हैं आपकी भी होंगी—तब बुद्ध को चिन्ता हुई कि उनसे किस प्रकार छुटकारा पाया जावे।

अश्वघोष ने इन अवस्थाओं का बड़ा सजीव वर्णन किया है :—एषो हि देव-पुरुषो जरयाभिभूतो···॥ आदि।

खोज करते हुए उन्होंने पाया कि तृष्णा ही सब दुःखों का कारण है। इसलिये तृष्णा की जड़ खोदने का उपदेश दिया :—

तं वो वदामि भद्दं वो यावन्तेऽत्र समागता।
तण्हाय मूलं खनथ उसीरत्थो व वीरणम्॥ (धम्मपदं २४-४)

वेदान्त ने भी वासना को दग्ध करने का उपदेश दिया है :—

निर्दग्धवासनाबीजं सत्तासामान्यरूपवान्।
संदसेवावियेतो न भूयो दुःखभाग्भवेत्॥

(योगवासिष्ठ-६-१०-१२)

भगवान् बुद्ध का यही आग्रह रहा है कि हम व्याधि की चिकित्सा करें, यह जानने का प्रयत्न न करें कि वह कहां से आई, कैसे आई। इसे समझाने के लिये उन्होंने घायल आदमी का उदाहरण देते हुए कहा—'यदि किसी को विषबुझा तीर लगे और वह कहे कि मैं तीर तब तक न निकलवाऊँगा जब तक यह न मालूम हो जावे कि वह कहाँ से आया है, किसने मारा है, उसका गोत्र या नाम क्या है, वह कितना लंबा है, आदि तो भिक्षुओ! उस आदमी को यह पता ही नहीं लगेगा और वह मर जावेगा।'

वे अन्य बातों पर विचार करना व्यर्थ समझ तृष्णा के क्षय पर ही मुख्य बल देते थे। उसी को पुर्नजन्म का कारण समझते थे। कुछ लोग कहते थे कि बुद्ध पुनर्जन्म को मानते थे किन्तु आत्मा को नहीं मानते थे। दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं। जब आत्मा ही नहीं तब पुनर्जन्म किसका? इसका उत्तर यह है कि अबौद्ध दर्शन जो कार्य आत्मा से लेते हैं वह सारा कार्य बौद्ध दर्शन मन से लेता है। वे कहते हैं कि मन सभी अवस्थाओं का पूर्वगामी है, मन ही मुख्य है। मनुष्य मनोमय है। जब आदमी मलिन मन से बोलता या कर्म करता है, तब दुःख उसके पीछे ऐसी तरह लग जाता है जैसे गाड़ी के पहिये बैल के पैरों के पीछे लग जाते हैं :—

मनो पुप्पंगागम्मा धम्मा मनो सेष्ठा मनोमया ।
मनसाचेवदुट्ठेन भासति वा करोति वा ॥
ततो तं दुक्खमन्वेति चक्कं व बहतो पदं ॥

(धम्मपदं मनोवग्यो)

मन ही संस्कारों का वाहक है और इसी कारण दुःख और पुनर्जन्म होता है । इसलिये दुःख नाश का यही उपाय है कि पाप कर्म न कर शुभ कर्म ही किये जावें और चित्त को वश में रखा जावे :—

सव्व पापस्स अकरणं कुसलस्स उपसंपदा ।
सचित्त परियोदर्पणं एतं बुद्धानसासनं ॥ (धम्मपद)

यही मार्ग श्रेष्ठ है, इसी से दर्शन की शुद्धि होती है और इसी में प्रतिपन्न होने पर दुःख का अन्त हो जाता है :—

एसोव मग्गो नस्यन्जो विशुद्धिया ।
एतह्मि तुम्हें पटिपन्नामुख्य सन्तं करिस्तथ ॥ (धम्मपद)

उन्होंने संसार को अनित्य असुख और अनात्म इन तीन शब्दों में व्यक्त किया है । इसके संबंध में बुद्ध का मत बिलकुल स्पष्ट था । उन्होंने कहा है :—

पदनित्यं तद् दुखं यद् दुखं तद् अनात्मम् ॥

अर्थात् जो अनित्य वस्तु है उसमें ही दुःख है और जो अनात्म है वह सब अनित्य है । इसका अर्थ यह हुआ कि वे ऐसी सत्ता में विश्वास करते थे जो कि नित्य और दुःख से परे है ।

उपनिषदों में भी इसी प्रकार आत्मा के संबंध में कहा गया है कि यही आत्मा ब्रह्म है :—अयमात्मा ब्रह्म ॥ जो महान् है उसी में सुख है, अल्प में सुख नहीं है—यद वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति ॥ दुःख से दूर होने का उपाय उसी आत्मा की प्राप्ति है—तरति शोकम् आत्मवित् ॥

बुद्ध भगवान् ने अनित्य शब्द का प्रयोग किया बाद में इसी का आधार लेकर क्षणभंगवाद का सिद्धांत प्रचलित हुआ । किन्तु इन दोनों शब्दों में बहुत अन्तर है । वे सांसारिक वस्तुओं को अनित्य और आत्मतत्व को नित्य मानते थे । इस प्रकार नित्य और अनित्य वस्तुओं में वे स्पष्ट भेद करते थे ।

दु:ख उपशम के लिये उन्होंने अष्टांगिक मार्ग खोज निकाला जिसके आठ अंग इस प्रकार हैं :—ये प्रज्ञ शील और समाधि के ही अंग हैं :—

१. सम्यक् दृष्टि २. सम्यक् संकल्प	प्रज्ञा
३. सम्यक् वाचा ४. सम्यक् कर्मान्त ५. सम्यक् आजीव	शील
६. सम्यक् व्यायाम ७. सम्यक् स्मृति ८. सम्यक् समाधि	समाधि

अश्वघोष ने चार अर्थ सत्यों को संक्षेप में इस प्रकार कहा है :—

बाधात्मकं दु:खमिदं प्रसक्तं
दु:खस्य हेतु: प्रभवात्मकोऽयं ।
दु:खक्षयो नि:शरणात्मकोऽयं
त्राणात्मकोऽयं प्रशमाय मार्ग: ।। (सौन्दरानन्द १६-४)

जगति क्षयधर्मके मुमुक्षुर्गृं गयेऽहं शिवमक्षयं पदं तत् ।

(बुद्धचरित ५-१८)

अनित्य को त्याग कर नित्य का वर्णन करना उनका सिद्धान्त था। ऊपर के श्लोक में शिव और अक्षय पद निर्वाण के लिये प्रयुक्त हुआ है। उपनिषदों और बुद्ध के उपदेशों में जो भेद पड़ता है वह यही है कि उपनिषदों में जो विशेषण आत्मा के लिये प्रयोग किये गये हैं वे सब बुद्ध के उपदेशों में निर्वाण के लिये प्रयोग किये गये हैं। इसी से समझने में भ्रम हो जाता है। अश्वघोष ने तो निर्वाण के लिये मोक्ष शब्द का प्रयोग किया है :—

प्राप्तो गृहस्थैरपि मोक्षधर्म: ।

बुद्धचरित में भगवान् बुद्ध के दिव्य जीवन के साथ जो उनके उपदेशों का समन्वय किया गया है उससे ये उपदेश और भी हृदयग्राही हो जाते हैं। अश्वघोष पर वैदिक धर्म का इतना अधिक प्रभाव था कि उनकी लेखनी से प्रसूत वर्णन आर्यधर्म से अलग नहीं जान पड़ते, उसी के अंग स्वरूप लगते

हैं। ऐसा नहीं जान पड़ता कि बौद्धधर्म कोई अलग धर्म है। उनकी उच्चतर भावना हर जगह प्रकट होती है :—

तपोवन में प्रवेश करते हुए वे कहते हैं कि मैंने स्वर्ग की लालसा, स्नेह-हीनता या क्रोध से नहीं किन्तु जन्म-मरण का नाश करने ही के लिये ऐसा किया है :—

जरामरणनाशार्थं प्रविष्टोस्मि तपोवनम्।
न खलु स्वर्गतर्षेण नास्नेहेन न मन्युना॥

(बुद्ध ६-१५)

(गीता से तुलना कीजिये—जरामरणमोक्षार्थं मामाश्रित्य यतन्ति ये।)

मैं शोक त्याग के लिये निकला हूँ फिर मेरे लिये शोक क्यों ? जो शोक के हेतुभूत कामों में आसक्त हैं वे ही शोचनीय हैं—

शोकत्यागाय निष्क्रान्तं न मां शोचितुमर्हसि।
शोकहेतुषु कामेषु त्यक्ताः शोच्यास्तु रागिणः॥

(बुद्ध ६-१८)

गीता में यह भावना बिलकुल एक रूप है—

अशोच्यानन्वशोचँस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।

बुद्ध इस पर बल देते हैं कि श्रेयमार्ग का हमें तुरन्त आचरण करना चाहिये। उसमें देर नहीं करनी चाहिये—

अकालो नास्ति धर्मस्य जीविते चञ्चले सति।
तस्मादद्यैव मे श्रेयश्चेतव्यमिति निश्चयः॥

(बुद्ध ६-२१, २२)

वशिष्ठ जी ने भी कहा है—

अद्यैव कुरु यच्छ्रेयः वृद्धः सन् किं करिष्यसि। (योगवासिष्ठ)

व्यास जी कहते हैं—

गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्। (महाभारत)

आर्यधर्म का सिद्धान्त है कि जितने ही संग्रह हैं सबका क्षय, जितने उन्नत हैं उनका पतन, संयोगों का वियोग, और जीवन का मरण निश्चय है।

सर्वे क्षयान्ता निचयाः, पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता, मरणान्तं तु जीवितम्॥

(यह श्लोक रामायण महाभारत तथा बौद्धग्रन्थों में ज्यों का त्यों पाया जाता है।)

प्राणियों का संयोग धारा में मिलने और बिछुड़नेवाली लकड़ी या आकाश में मिलनेवाले मेघों के समान ही है—

समेत्य च यथा भूयो व्यपयान्ति बलाहकाः।
संयोगो विप्रयोगश्च तथा मे प्राणिनां मतः॥ (बुद्ध ६–४७)
यथा काष्ठं च काष्ठं च समापेतं महोदधौ।
समेत्य चाव्यपेयातां तद्वद्भूत-समागमः॥ (महाभारत)

बुद्ध के त्याग को देखकर हमें राम का स्मरण हो आता है।

दधतो मङ्गलक्षौमे वसानस्य च वल्कले।
ददृशुर्विस्मितास्तस्य मुखरागं समं जनाः॥ (रघुवंश)

× × ×

तृण समान भूषण वसन, तात तजे रघुवीर।
हृदय न हर्ष विषाद कछु पहरे वल्कल चीर॥ (तुलसी)

× × ×

मुक्त्वा त्वलङ्कारकलत्रवत्तां, श्रीविप्रवासं शिरसश्च कृत्वा।
दृष्ट्वांशुकं काञ्चनहंसचिन्हं, वन्यं स धीरोभिचकांक्ष वासः॥
(बुद्ध ६–५९)

बुद्ध को बिदा करते हुए छन्दक की वही दशा हुई जैसे श्रीराम को बिदा करते हुए सुमंत्र की हुई थी :—

नास्मि यातुं पुरं शक्तो दह्यमानेन चेतसा।
त्वामरण्ये परित्यज्य सुमंत्र इव राघवम्॥ (बुद्ध ७–३६)

बुद्ध के चरित्र में हमें प्रबल वैराग्य, त्याग, दृढ़ता, अविचल निश्चय और लोकहित की भावना के प्रमाण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। सब से पहले संसार की नश्वरता से उत्पन्न काम भोगों के प्रति उन्हें निर्वेद उत्पन्न होता है और उनके दुःख रूप होने का अनुभव होता है। किस आत्मवान् को कामभोगों के प्रति प्रीति हो सकती है?—'कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात्'। युवती पत्नी, नवजात शिशु, वृद्ध पिता और समृद्धिपूर्ण राज्य को छोड़कर अमृत की खोज में वे निकल

पड़ते हैं (अमृतं प्राप्तुमितोद्य मे यियासा) भोगों के विपरीत तप की ओर मुड़ते हैं और कठोर तपस्या करते हैं। किन्तु उससे भी जब आत्मप्राप्ति नहीं होती तब मध्यम मार्ग (मज्झमा पटिसदा) आश्रय लेते हैं। पिता के मनाये जाने पर घर नहीं लौटते और कहते हैं कि संसार के विषयों से विरक्त होकर मैं शान्ति की कामना से यहाँ आया हूँ :—

अहं हि संसारशरेण विद्धः, विनिःसृतः शान्तिमवाप्तुकामः ।

जगत हित की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने यह किया ('बोधाय जातोस्मि जगद्धितार्थम्' तथा 'धम्मस्य दुःखे जगतो हिताय') दृढ़ निश्चय करते हैं कि जब तक सफलता नहीं मिले तब तक अपने नगर में प्रवेश नहीं करेंगे—

जन्ममरणयोरदृष्टपारः, न पुनः कपिलालयं प्रवेष्टा ;

चाहे प्रज्वलित अग्नि में क्यों न प्रवेश करना पड़े किन्तु असफल होकर घर नहीं लौटूंगा।

अहं विशेयं ज्वलितं हुताशनं, न चाकृतार्थः प्रविशेयमालयम् ॥

उन्हें निश्चय से डिगाने के लिये अनेक विघ्न आते हैं जिन्हें मार का आक्रमण कहा गया है। वे उस पर विजय प्राप्त करते हैं। यहीं तक का वर्णन बुद्धचरित के १४ सर्गों में मिलता है। १४ वें सर्ग के केवल ३१ श्लोक प्राप्त होते हैं। वैसे तो प्रथम सर्ग के प्रारम्भिक ७ श्लोक तथा २५ से ३९ श्लोक भी मूल प्रति में अप्राप्य हैं। शास्त्री जी ने १४वें सर्ग में ३२ से ११२श्लोकों की रचना की है।

व्योहार राजेन्द्र सिंह

भूतपूर्व अध्यक्ष, हिन्दी साहित्य सम्मेलन (म. प्र.)

विषय-सूची

॥ श्रीः ॥

बुद्धचरितम्

अथ प्रथमः सर्गः

भगवत्प्रसूतिः

भगवान् का जन्म

इक्ष्वाकुवंशार्णवसम्प्रसूतः प्रेमाकरश्चन्द्र इव प्रजानाम् ।
शाक्येषु साकल्यगुणाधिवासः शुद्धोदनाख्यो नृपतिर्बभूव ॥ १ ॥

इक्ष्वाकु वंश रूपी समुद्र में उत्पन्न, प्रजाओं के लिये चन्द्र सदृश प्रेम का आकर, सम्पूर्ण गुणों का निधान–शुद्धोदन नामक राजा, शाक्यों में हुआ ॥ १ ॥

आसीन्महेन्द्रादिसमस्य तस्य पृथ्वीव गुर्वी महिषी नृपस्य ।
मायेति नाम्नी शिवरत्नसारा शीलेन कान्त्याप्यधिदेवतेव ॥ २ ॥

महेन्द्र पर्वत के सदृश उस राजा की कल्याणमय रत्नों से सार वाली, पृथ्वी के समान गौरव शालिनी शील एवं कान्ति से अधिदेवता के तुल्य 'माया' नाम की रानी थी ॥ २ ॥

टिप्पणी—अश्वघोष कृत प्रथम सात मूल श्लोक अनुपलब्ध हैं। इन श्लोकों की रचना, श्री सूर्यनारायण चौधरी की हिन्दी के आधार पर रामचन्द्र दास शास्त्री ने की है ।

देवैरभिप्रार्थ्यमनल्पभोगं सार्धं तयासौ बुभुजे नृपालः।
सा चाथ विद्येव समाधियुक्ता गर्भं दधे लोकहिताय साध्वी ॥ ३ ॥

राजा उस रानी के साथ, देवता भी जिसकी अभिलाषा करते थे—ऐसे अपार (सुख) भोग भोगता था और तब समाधियुक्त विद्या के सदृश उस साध्वी रानी ने लोक-कल्याण के लिए गर्भ धारण किया ॥ ३ ॥

पूर्वं तु सा चन्द्रमिवाभ्रमध्ये स्वप्ने ददर्शात्मवपुर्विशन्तम्।
नागेन्द्रमेकं धवलं न धीरा तस्मान्निमित्ताद्भियाञ्चकार ॥ ४ ॥

उस रानी ने (गर्भ धारण के) पहले स्वप्न में अपने अन्दर एक सफेद हाथी प्रवेश करते हुए उसी प्रकार देखा जैसे बादल में चन्द्रमा प्रवेश करता है। किन्तु उस कारण से वह धीर रानी डरी नहीं ॥ ४ ॥

वंशश्रियं गर्भगतां वहन्ती प्राचीव कल्ये विरराज राज्ञी।
सा शोकमोहक्लमवर्जितापि घनं वनं गन्तुमियेष देवी ॥ ५ ॥

वंश की शोभा या वैभव रूप गर्भ को धारण किये हुए वह रानी, प्रातःकालीन प्राची दिशा की भाँति शोभित हुई और शोक, मोह तथा थकान रहित भी उस देवी ने सान्द्रवन में जाने की इच्छा की ॥ ५ ॥

सा लुम्बनीनाम्नि वने मनोज्ञे ध्यानप्रदे देववनादनूने।
वासेच्छया प्राह पतिं प्रतीता सत्त्वानिभं दोहदमामनन्ति ॥ ६ ॥

विश्वास करने वाली वह रानी, मनोहर, ध्यानप्रद एवं देववन (नन्दनवन) से कम नहीं ऐसे 'लुम्बिनी' नाम वन में निवास करने की इच्छा से पति से बोली। गर्भ के अनुसार ही दोहद (गर्भकालीन इच्छा) होती है--ऐसा माना है ॥ ६ ॥

तस्या विदित्वा नृप आर्यभावं धर्म्यञ्च तुष्टः सुतरामनन्दत्।
इच्छाविघातादहितं विशङ्क्य तत्प्रीतये चाशु विनिर्जगाम ॥ ७ ॥

राजा उसका धर्म युक्त श्रेष्ठ भाव जानकर बड़ा प्रसन्न हुआ। इच्छा विघात से अनिष्ट की आशंका करके रानी की प्रसन्नता के लिये शीघ्र निकल पड़ा ॥ ७ ॥

तस्मिन्वने श्रीमति राजपत्नी प्रसूतिकालं समवेक्षमाणा ।
शय्यां वितानोपहितां प्रपेदे नारीसहस्रैरभिनन्द्यमाना ॥ ८ ॥

सहस्रों स्त्रियों से अभिनन्दित (सेवित) राजा की पत्नी, प्रसव-काल निकट समझकर, उस शोभायुक्त वन में वितान सहित शय्या पर गई ॥ ८ ॥

ततः प्रसन्नश्च बभूव पुष्यस्तस्याश्च देव्या व्रतसंस्कृतायाः ।
पार्श्वात्सुतो लोकहिताय जज्ञे निर्वेदनं चैव निरामयं च ॥ ९ ॥

तब निर्मल पुष्य नक्षत्र प्रगट हुआ और व्रत से संशुद्ध देवी के पार्श्व से लोक-कल्याणार्थ पुत्र उत्पन्न हुआ; रानी को न तो पीड़ा हुई और न रोग ही हुआ ॥ ९ ॥

ऊरोर्यथौर्वस्य पृथोश्च हस्तान्मान्धातुरिन्द्रप्रतिमस्य मूर्ध्नः ।
कक्षीवतश्चैव भुजांसदेशात्तथाविधं तस्य बभूव जन्म ॥१०॥

जिस प्रकार और्व का जन्म जाँघ से, पृथु का हाथ से, इन्द्रसदृश मान्धाता का मस्तक से तथा कक्षीवान् का काँख से हुआ था, उसी प्रकार उसका जन्म 'पार्श्व' से हुआ ॥ १० ॥

क्रमेण गर्भादभिनिःसृतः सन् बभौ च्युतः खादिव योन्यजातः ।
कल्पेष्वनेकेषु च भावितात्मा यः सम्प्रजानन्सुषुवे न मूढः ॥११॥

काल-क्रम से गर्भ से निकलने पर, वह आकाश से गिरे हुए के समान शोभित हुआ, और अनेक कल्पों में कृत पुण्य के कारण पवित्र अन्तःकरण वाला वह सबोध (जाग्रत्) उत्पन्न हुआ, मूढ़ (मूर्छित) होकर नहीं ॥ ११ ॥

दीप्त्या च धैर्येण च यो रराज बालो रविर्भूमिमिवावतीर्णः ।
तथातिदीप्तोऽपि निरीक्ष्यमाणो जहार चक्षूंषि यथा शशाङ्कः ॥ १२ ॥

तेज एवं धैर्य से वह, भूमि पर आये हुए बाल-सूर्य की भाँति, शोभित हुआ; और अत्यन्त तेजस्वी होने पर भी, देखे जाने पर, (देखने वालों के) नेत्र, चन्द्रमा के समान, हर लेता था ॥ १२ ॥

स हि स्वगात्रप्रभया ज्वलन्त्या दीपप्रभां भास्करवन्मुमोष ।
महार्हजाम्बूनदचारुवर्णो विद्योतयामास दिशश्च सर्वाः ॥ १३ ॥

उसने अपने शरीर की जाज्वल्यमान प्रभा से सूर्य सदृश दीपप्रभा को हर लिया; और उत्तम स्वर्ण सदृश सुन्दर वर्ण वाले (उस बालक) ने सम्पूर्ण दिशाओं को प्रकाशित किया ।। १३ ।।

अनाकुलाकुब्जसमुद्‌धृतानि निष्पेषवद्‌व्यायतविक्रमाणि ।
तथैव धीराणि पदानि सप्त सप्तर्षितारासदृशो जगाम ।। १४ ।।

सप्तर्षि तारा के सदृश वह सात पग चला; उसके ये पग शान्त, ऋजु, उन्नत, पूर्वाभ्यस्त, दीर्घ, पराक्रम युक्त एवं धीर थे ।। १४ ।।

बोधाय जातोऽस्मि जगद्धितार्थमन्त्या भवोत्पत्तिरियं ममेति ।
चतुर्दिशं सिंहगतिर्विलोक्य वाणीं च भव्यार्थकरीमुवाच ।। १५ ।।

और सिंह के सदृश गति वाले (उस बालक) ने चहुँ ओर देखकर यह भव्य एवं सार्थक वाणी की—"विश्वकल्याण के लिये एवं ज्ञानप्राप्ति के लिए मैंने जन्म ग्रहण किया है; संसार में यह मेरा अन्तिम जन्म है" ।। १५ ।।

खात्प्रस्रुते चन्द्रमरीचिशुभ्रे द्वे वारिधारे शिशिरोष्णवीर्ये ।
शरीरसंस्पर्शसुखान्तराय निपेततुर्मूर्धनि तस्य सौम्ये ।। १६ ।।

चन्द्र किरण सदृश निर्मल दो धाराएँ—शीतल एवं उष्ण, आकाश से स्रवित हुई और आन्तरिक सुख के लिये शरीर स्पर्श कर उसके सौम्य मस्तक पर गिरीं ।। १६ ।।

श्रीमद्विताने कनकोज्ज्वलाङ्गे वैडूर्यपादे शयने शयानम् ।
यद्गौरवात्काञ्चनपद्महस्ता यक्षाधिपाः संपरिवार्य तस्थुः ।। १७ ।।

सुन्दर चाँदनी से युक्त, स्वर्णमय उज्ज्वल एवं वैडूर्य मणि के पादों से युक्त शय्या पर वह सोया हुआ था । उसके प्रभाव के कारण यक्षपति-गण हाथ में स्वर्ण कमल धारण किये हुए उसे चहुँ ओर घेरकर खड़े हुए ।। १७ ।।

अदृश्यरूपाश्च दिवौकसः खे यस्य प्रभावात्प्रणतैः शिरोभिः ।
अधारयन पाण्डुरमातपत्रं बोधाय जेपुः परमाशिषश्च ।। १८ ।।

और अदृश्य रूप देव गणों ने उसके प्रभाव से प्रभावित होकर, नत मस्तक हो, आकाश में शुभ्र छत्र धारण किया और उसकी बुद्धत्व प्राप्ति के लिये शुभाशीर्वाद दिये ।। १८ ।।

महोरगा धर्मविशेषतर्षाद् बुद्धेष्वतीतेषु कृताधिकाराः ।
यमव्यजन् भक्तिविशिष्टनेत्रा मन्दारपुष्पैः समवाकिरंश्च ॥ १९ ॥

अतीत बुद्धों में जिनका अधिकार था (उनको सेवा द्वारा प्रसन्न किया था) ऐसे बड़े बड़े सर्पों ने धर्म विशेष की लालसा से उसके ऊपर व्यजन डुलाये और भक्ति-युक्त नेत्रों से देखते हुए मन्दार फूल बरसाये ॥ १९ ॥

तथागतोत्पादगुणेन तुष्टाः शुद्धाधिवासाश्च विशुद्धसत्त्वाः ।
देवा ननन्दुर्विगतेऽपि रागे मग्नस्य दुःखे जगतो हिताय ॥ २० ॥

तथागत के जन्म से प्रसन्न होकर, पवित्र अन्तःकरण वाले शुद्धाधिवास देवगण उदासीन (राग रहित) होने पर भी आनन्दित हुए, (क्योंकि) दुःख से पीड़ित विश्व के हित के लिये उसका जन्म हुआ है ॥ २० ॥

यस्य प्रसूतौ गिरिराजकीला वाताहता नौरिव भूश्चचाल ।
सचन्दना चोत्पलपद्मगर्भा पपात वृष्टिर्गगनादनभ्रात् ॥ २१ ॥

उसके जन्म होने पर, गिरिराज (सुमेरु) रूप कील पर स्थिर रहनेवाली पृथ्वी, वायु से आहत नौका की भांति काँपी और बिना बादल के आकाश से चन्दन सुगन्धि युक्त लाल नीले कमल मिश्रित वृष्टि हुई ॥ २१ ॥

वाता ववुः स्पर्शसुखा मनोज्ञा दिव्यानि वासांस्यवपातयन्तः ।
सूर्यः स एवाभ्यधिकं चकाशे जज्वाल सौम्यार्चिरनीरितोऽग्निः ॥२२॥

स्पर्श से आनन्द देने वाली, एवं मन को लुभाने वाली वायु उत्तम वस्त्रों की वर्षा करती हुई बहने लगी । वही सूर्य (इस प्रकार) अत्यधिक तेजस्वी हुआ (मानो) बिना धौंके ही अग्नि सौम्य शिखा सहित जलने लगी ॥ २२ ॥

प्रागुत्तरे चावसथप्रदेशे कूपः स्वयं प्रादुरभूत्सिताम्बुः ।
अन्तःपुराण्यागतविस्मयानि यस्मिन् क्रियास्तीर्थ इव प्रचक्रुः ॥२३॥

निवास भूमि की उत्तर-पूर्व दिशा में उज्ज्वल जल युक्त कुएं का निर्माण अपने आप ही हुआ जिसे तीर्थ सदृश (पवित्र) मानकर, अन्तःपुर स्थित स्त्रियों ने आश्चर्य चकित समस्त क्रियाएँ कीं ॥ २३ ॥

धर्मार्थिभिर्भूतगणैश्च दिव्यैस्तद्दर्शनार्थं वनमापुपूरे।
कौतूहलेनैव च पादपेभ्यः पुष्पाण्यकालेऽप्यवपातयद्भिः ॥ २४ ॥

उसके दर्शन के लिये आये हुए धर्माभिलाषी महापुरुषों से वह वन भर गया। उन्होंने कौतूहलपूर्वक असमय में भी वृक्षों से खिले हुए पुष्पों की वर्षा की ॥ २४ ॥

भूतैरसौम्यैः परित्यक्तहिंसैर्नाकारि पीडा स्वगणे परे वा।
लोके हि सर्वाश्च विना प्रयासं रुजो नराणां शमयांबभूवुः ॥ २५ ॥

क्रूर प्राणियों ने स्वाभाविक हिंसा त्यागकर स्वजनों अथवा अन्य लोगों को कष्ट नहीं पहुँचाया और संसार में सब प्रकार के रोग बिना प्रयत्न के शान्त हो गये ॥ २५ ॥

कलं प्रणेदुः मृगपक्षिणश्च शान्ताम्बुवाहाः सरितो बभूवुः।
दिशः प्रसेदुर्विमले निरभ्रे विहायसे दुन्दुभयो निनेदुः ॥ २६ ॥

मृग और पक्षी मधुर स्वर में बोले, नदियाँ शान्त जल युक्त बहीं, दिशायें निर्मल हो गईं, मेघ रहित स्वच्छ आकाश में नगाड़े बजे ॥ २६ ॥

लोकस्य मोक्षाय गुरौ प्रसूते शमं प्रपेदे जगदव्यवस्थम्।
प्राप्येव नाथं खलु नीतिमन्तमेको न मारो मुदमाप लोके ॥ २७ ॥

जगत् के मोक्ष के लिये गुरु के उत्पन्न होने पर अव्यवस्थित जगत् शान्त (व्यवस्थित) हो गया मानो नीतिमान् राजा प्राप्त हो गया हो। केवल कामदेव को प्रसन्नता नहीं हुई ॥ २७ ॥

दिव्याद्भुतं जन्म निरीक्ष्य तस्य धीरोऽपि राजा बहुक्षोभमेतः।
स्नेहादसौ भीतिप्रमोदजन्ये द्वे वारिधारे मुमुचे नरेन्द्रः ॥२८॥

उसका दिव्य एवं अद्भुत जन्म देखकर राजा धैर्यवान् होने पर भी अत्यन्त क्षुब्ध हुआ और स्नेहवश भय एवं प्रमोद जन्य दो अश्रु-धाराएँ उसने प्रवाहित कीं ॥ २८ ॥

अमानुषीं तस्य निशम्य शक्तिं माता प्रकृत्या करुणार्द्रचित्ता।
प्रीता च भीता च बभूव देवी शीतोष्णमिश्रेव जलस्यधारा ॥ २९ ॥

उसकी अमानवीय शक्ति देखकर, स्वभाव से ही करुण हृदय वाली माता, शीतल एवं उष्ण जल की मिश्रित धारा की भाँति, आनन्द एवं भय से भर गई ॥ २९ ॥

निरीक्षमाणा भयहेतुमेव ध्यातुं न शेकुः वनिताः प्रवृद्धाः ।
पूताश्च ता मङ्गलकर्म चक्रुः शिवं ययाचुः शिशवे सुरौघान् ॥ ३० ॥

अति वृद्ध स्त्रियाँ भय के ही कारण देखती हुईं, ध्यान करने में असमर्थ रहीं और पवित्र होकर उन्होंने मंगलाचरण किया तथा देव-समुदाय से शिशु के लिए मङ्गल की याचनाएँ कीं ॥ ३० ॥

विप्राश्च ख्याताः श्रुतशीलवाग्भिः श्रुत्वा निमित्तानि विचार्य सम्यक् ।
मुखैः प्रफुल्लैश्चकितैश्च दीप्तैः भीतं प्रसन्नं नृपमेत्य प्रोचुः ॥ ३१ ॥

शास्त्र, शील एवं वाणी में ख्याति प्राप्त ब्राह्मणों ने निमित्त सुनकर, उस पर अच्छी तरह विचार किया और आश्चर्य सहित प्रफुल्लित एवं उज्ज्वल मुख से राजा से; जो कि भयभीत एवं प्रसन्न भी था कहा—॥ ३१ ॥

शमेप्सवो ये भुवि सन्ति सत्त्वाः पुत्रं विनेच्छन्ति गुणं न कञ्चित् ।
त्वत्पुत्र एषोऽस्ति कुलप्रदीपः नृत्योत्सवं त्वद्य विधेहि राजन् ॥ ३२ ॥

हे राजन् ! संसार में जो शान्ति चाहने वाले प्राणी हैं, वे पुत्र के अतिरिक्त और कोई गुण नहीं चाहते। आपका यह पुत्र कुल का दीपक है, अतः आज नृत्य उत्सव कीजिये ॥ ३२ ॥

विहाय चिन्तां भव शान्तचित्तो मोदस्व वंशस्तव वृद्धिभागी ।
लोकस्य नेता तव पुत्रभूतः दुःखार्दितानां भुवि एष त्राता ॥ ३३ ॥

चिन्ता छोड़कर शान्त चित्त होकर आनन्द कीजिये, आप का वंश उन्नतिशील होगा। संसार में दुःखों से पीड़ित लोगों का रक्षक एवं विश्व का नेता, यह तुम्हारा पुत्र होकर उत्पन्न हुआ है ॥ ३३ ॥

दीपप्रभोऽयं कनकोज्ज्वलाङ्गः सुलक्षणैर्यैस्तु समन्वितोऽस्ति ।
निधिर्गुणानां समये स गन्ता बुद्धर्षिभावं परमां श्रियं वा ॥ ३४ ॥

दीप के समान प्रकाशवान्, स्वर्ण की भांति उज्ज्वल कान्ति वाला (यह

बालक) जिन शुभ लक्षणों से युक्त है, (उनसे) वह समय पर गुणों का निधान होगा और बुद्धों में ऋषि होगा अथवा अत्यन्त (राज्य) श्री प्राप्त करेगा ॥ ३४ ॥

इच्छेदसौ वै पृथिवीश्रियं चेद् न्यायेन जित्वा पृथिवीं समग्राम् ।
भूपेषु राजेत यथा प्रकाशः ग्रहेषु सर्वेषु रवेर्विभाति ॥३५॥

यदि पृथ्वी के राज्य की इच्छा करे तो न्याय से सम्पूर्ण पृथ्वी को जीतकर सब राजाओं के ऊपर उसी तरह शोभित होगा जिस प्रकार समस्त ग्रहों के ऊपर सूर्य का प्रकाश ॥ ३५ ॥

मोक्षाय चेद्वा वनमेव गच्छेत् तत्त्वेन सम्यक् स विजित्य सर्वान् ।
मतान् पृथिव्यां बहुमानमेतः राजेत शैलेषु यथा सुमेरुः ॥३६॥

अथवा यदि मोक्ष के लिये वन को ही जावे तो वह (अपने) तत्त्व ज्ञान से सब मतों को जीत कर पृथ्वी पर बहु सम्मानित हो, उसी प्रकार प्रतिष्ठित होगा जिस प्रकार पर्वतों के मध्य सुमेरु ॥ ३६ ॥

यथा हिरण्यं शुचि धातुमध्ये मेरुर्गिरीणां सरसां समुद्रः ।
तारासु चन्द्रस्तपतां च सूर्यः पुत्रस्तथा ते द्विपदेषु वर्यः ॥ ३७ ॥

जिस प्रकार धातुओं में शुद्ध स्वर्ण, पर्वतों में सुमेरु, जलाशयों में समुद्र, ताराओं में चन्द्रमा तथा अग्नियों में सूर्य श्रेष्ठ है उसी प्रकार मनुष्यों में आपका पुत्र श्रेष्ठ है ॥ ३७ ॥

तस्याक्षिणी निर्निमिषे विशाले स्निग्धे च दीप्ते विमले तथैव ।
निष्कम्पकृष्णायतशुद्धपक्ष्मे द्रष्टुं समर्थे खलु सर्वभावान् ॥ ३८ ॥

उसके नेत्र निर्निमेष, विशाल, स्निग्ध, तीव्र एवं निर्मल हैं उसी प्रकार निश्चल, काले एवं लम्बे पपनियों वाले हैं अतः सब कुछ देख सकने में समर्थ हैं ॥ ३८ ॥

कस्मान्नु हेतोः कथितान्भवद्भिर्वरान्गुणान् धारयते कुमारः ।
प्रापुर्न पूर्वे मुनयो नृपाश्च राज्ञेति पृष्टा जगदुर्द्विजास्तम् ॥ ३९ ॥

राजा ने पूछा—"क्या कारण है कि आपके द्वारा बतलाये हुए जिन

श्रेष्ठ गुणों को कुमार धारण किये हुए हैं वे, पहले के मुनियों एवं ऋषियों में नहीं थे ?" तब ब्राह्मणों ने उससे कहा—॥ ३९ ॥

ख्यातानि कर्माणि यशो मतिश्च पूर्वं न भूतानि भवन्ति पश्चात् ।
गुणा हि सर्वाः प्रभवन्ति हेतोर्निदर्शनान्यत्र च नो निबोध ॥४०॥

विख्यात कर्म, यश, तथा बुद्धि, पहले (किसी में) नहीं हुए, बाद में (किसी में) देखे गये, (इस सम्बन्ध में सन्देह की बात नहीं है) क्योंकि सब प्रकार के गुण किसी कारण से उत्पन्न होते हैं, हमारा दृष्टान्त सुनिये—॥ ४० ॥

यद्राजशास्त्रं भृगुरङ्गिरा वा न चक्रतुर्वंशकरावृषी तौ ।
तयोः सुतौ सौम्य ससर्जतुस्तत् कालेन शुक्रश्च बृहस्पतिश्च ॥ ४१ ॥

हे सौम्य ! वंश-परम्परा चलानेवाले भृगु एवं अङ्गिरा ऋषियों ने जिस राजशास्त्र को नहीं बनाया था, उस शास्त्र को उनके पुत्र शुक्र एवं बृहस्पति ने बनाया ॥ ४१ ॥

सारस्वतश्चापि जगाद नष्टं वेदं पुनर्यं ददृशुर्न पूर्वे ।
व्यासस्तथैनं बहुधा चकार न यं वसिष्ठः कृतवानशक्तिः ॥ ४२ ॥

और जिस नष्ट हुए वेद को पहिले किसी ने नहीं देखा उसे (बाद में) सरस्वती के पुत्र ने कहा तथा व्यास ने इसको कई विभागों में किया जो कि शक्ति-हीन वसिष्ठ ने नहीं किया था ॥ ४२ ॥

वाल्मीकिरादौ च ससर्ज पद्यं जग्रन्थ यन्न च्यवनो महर्षिः ।
चिकित्सितं यच्च चकार नात्रिः पश्चात्तदात्रेय ऋषिर्जगाद ॥४३॥

सर्वप्रथम वाल्मीकि ने पद्य रचना की, जो महर्षि च्यवन ने नहीं की थी तथा अत्रि ने जिस चिकित्सा शास्त्र को नहीं रचा था, उसे आत्रेय ऋषि ने कहा ॥ ४३ ॥

यच्च द्विजत्वं कुशिको न लेभे तद्गाधिनः सूनुरवाप राजन् ।
वेलां समुद्रे सगरश्च दध्रे नेक्ष्वाकवो यां प्रथमं बबन्धुः ॥ ४४ ॥

हे राजन् ! विश्वामित्र के पूर्वज कुशिक ने जिस द्विजत्व को नहीं पाया

था, उसे गाधि-पुत्र विश्वामित्र ने प्राप्त किया और सगर ने समुद्र में वेला बाँधी, जो इक्ष्वाकु के वंश में किसी ने नहीं बाँधी थी ॥ ४४ ॥

आचार्यकं योगविधौ द्विजानामप्राप्तमन्यैर्जनको जगाम ।
ख्यातानि कर्माणि च यानि शौरेः शूरादयस्तेष्वबला बभूवुः ॥ ४५ ॥

योगविधि में द्विजों का जो आचार्य पद किसी दूसरे को नहीं मिला था; वह पद जनक को प्राप्त हुआ। शौरि ने जो प्रसिद्ध कर्म किये; शूर आदि उन कर्मों में असमर्थ रहे ॥ ४५ ॥

तस्मात्प्रमाणं न वयो न वंशः कश्चित्क्वचिच्छ्रैष्ठ्यमुपैति लोके ।
राज्ञामृषीणां च हि तानि तानि कृतानि पुत्रैरकृतानि पूर्वैः ॥४६॥

अतः न तो अवस्था ही प्रमाण है और न वंश ही। संसार में कोई भी, कहीं भी श्रेष्ठता प्राप्त कर सकता है क्योंकि राजाओं एवं ऋषियों के पुत्रों ने वे कर्म किये जो उनके पूर्वजों ने नहीं किये थे ॥ ४६ ॥

एवं नृपः प्रत्ययितैर्द्विजैस्तैराश्वासितश्चाप्यभिनन्दितश्च ।
शंकामनिष्टां विजहौ मनस्तः प्रहर्षमेवाधिकमारुरोह ॥ ४७ ॥

इस प्रकार उन विश्वासी ब्राह्मणों ने राजा को सान्त्वना दी तथा उसका अभिनन्दन किया तब राजा ने अपने मन की अनिष्ट शंकाओं का परित्याग किया एवं अत्यन्त प्रसन्नता प्राप्त की ॥ ४७ ॥

प्रीतश्च तेभ्यो द्विजसत्तमेभ्यः सत्कारपूर्वं प्रददौ धनानि ।
भूयादयं भूमिपतिर्यथोक्तो यायाज्जरामेत्य वनानि चेति ॥ ४८ ॥

तब (नृप ने) प्रसन्न होकर उन ब्राह्मणश्रेष्ठों को सत्कारपूर्वक इस उद्देश्य से धन दिया कि उनके कथनानुसार वह राजा होवे एवं वृद्धावस्था में ही वन को जाय ॥ ४८ ॥

अथो निमित्तैश्च तपोबलाच्च तज्जन्म जन्मान्तकरस्य बुद्ध्वा ।
शाक्येश्वरस्यालयमाजगाम सद्धर्मतर्षादसितो महर्षिः ॥ ४९ ॥

तब महर्षि असित, निमित्तों से और तपोबल से 'जन्मान्तकर'—जन्म का अन्त करने वाले—का वह जन्म जानकर सद्धर्म की जिज्ञासा से शाक्य राजा के घर आये ॥ ४९ ॥

तं ब्रह्मविद्ब्रह्मविदं ज्वलन्तं ब्राह्मया श्रिया चैव तपःश्रिया च ।
राज्ञो गुरुर्गौरवसत्क्रियाभ्यां प्रवेशयामास नरेन्द्रसद्म ॥ ५० ॥

ब्रह्मवेत्ता राज-गुरु ने ब्रह्मतेज और तपस्तेज से देदीप्यमान उस ब्रह्मज्ञानी को गौरव एवं सत्कारपूर्वक राजमहल में प्रवेश कराया ॥ ५० ॥

स पार्थिवान्तःपुरसन्निकर्षं कुमारजन्मागतहर्षवेगः ॥
विवेश धीरो वनसंज्ञयेव तपःप्रकर्षाच्च जराश्रयाच्च ॥ ५१ ॥

कुमार के जन्म से प्राप्त हर्ष-वेग से युक्त वे (असित) राजा के अन्तः-पुर के निकट पहुँचे । तपस्या के आधिक्य एवं वृद्धावस्था के कारण धीर, (वे मुनि) वहाँ भी वन सदृश समझते थे ॥ ५१ ॥

ततो नृपस्तं मुनिमासनस्थं पाद्यार्घ्यपूर्वं प्रतिपूज्य सम्यक् ।
निमंत्रयामास यथोपचारं पुरा वसिष्ठं स इवान्तिदेवः ॥ ५२ ॥

तब राजा ने उस मुनि को सिंहासन पर बैठाकर उसकी पाद्य-अर्घ्य सहित विधिवत् पूजा करके उससे उसी प्रकार सादर निवेदन किया जिस प्रकार पूर्व काल में अन्तिदेव ने वसिष्ठ से किया था ॥ ५२ ॥

धन्योऽस्म्यनुग्राह्यमिदं कुलं मे यन्मां दिदृक्षुर्भगवानुपेतः ।
आज्ञाप्यतां किं करवाणि सौम्य शिष्योऽस्मि विस्रम्भितुमर्हसीति ॥५३॥

मैं धन्य हूँ, मेरा यह कुल अनुगृहीत है जो कि आप मुझे देखने के लिए आये हैं । हे सौम्य ! आज्ञा दीजिये, मैं क्या सेवा करूँ ? आपका शिष्य हूँ, विश्वास कीजिये ॥ ५३ ॥

एवं नृपेणोपनिमंत्रितः सन् सर्वेण भावेन मुनिर्यथावत् ।
स विस्मयोत्फुल्लविशालदृष्टिर्गम्भीरधीराणि वचांस्युवाच ॥ ५४ ॥

इस प्रकार राजा ने सर्वथा नम्र भाव से मुनि के प्रति उचित निवेदन किया । तब मुनि के नेत्र आश्चर्य से पुलकित एवं विशाल हो गये तथा मुनि ने ये गम्भीर एवं धीर वचन कहे—॥ ५४ ॥

महात्मनि त्वय्युपपन्नमेतत् प्रियातिथौ त्यागिनि धर्मकामे ।
सत्त्वान्वयज्ञानवयोऽनुरूपा स्निग्धा यदेवं मयि ते मतिः स्यात् ॥५५॥

आप अतिथि-प्रिय, त्यागशील, धर्माभिलाषी एवं महात्मा हैं। आप से यह योग है जो कि अपने स्वभाव, वंश, ज्ञान एवं अवस्था के अनुरूप आपकी प्रेम-बुद्धि मुझ में हो रही है ॥ ५५ ॥

एतच्च तद्येन नृपर्षयस्ते धर्मेण सूक्ष्मेण धनान्यवाप्य।
नित्यं त्यजन्तो विधिवद्बभूवुस्तपोभिराढ्या विभवैर्दरिद्राः ॥ ५६ ॥

यह वही विधि है जिससे वे राजर्षि दुरूह धर्म से धन प्राप्त करके निरन्तर विधिवत् दान करते हुए तपस्या से परिपूर्ण एवं धन से रिक्त हो गये ॥ ५६ ॥

प्रयोजनं यत्तु ममोपयाने तन्मे शृणु प्रीतिमुपेहि च त्वम्।
दिव्या मयादित्यपथे श्रुता वाग्बोधाय जातस्तनयस्तवेति ॥ ५७ ॥

किन्तु मेरे आने का जो अभिप्राय है उसे आप सुनिये एवं सुख पाइये। सूर्यमार्ग में मैंने दिव्य वाणी सुनी है कि बुद्धत्व प्राप्ति के लिए आपका पुत्र उत्पन्न हुआ है ॥ ५७ ॥

श्रुत्वा वचस्तच्च मनश्च युक्त्वा ज्ञात्वा निमित्तैश्च ततोऽस्म्युपेतः
दिदृक्षया शाक्यकुलध्वजस्य शक्रध्वजस्येव समुच्छ्रितस्य ॥ ५८ ॥

उस (दिव्य) वाणी को सुनकर अपने मन को योग युक्त कर तथा निमित्तों से भी जानकर, वहाँ से, इन्द्र की ध्वजा के समान अति उन्नत शाक्यकुल की ध्वजा को देखने की इच्छा से यहाँ आया हूँ ॥ ५८ ॥

इत्येतदेवं वचनं निशम्य प्रहर्षसंभ्रान्तगतिर्नरेन्द्रः।
आदाय धात्र्यङ्कगतं कुमारं संदर्शयामास तपोधनाय ॥ ५९ ॥

इस प्रकार यह वचन सुनकर प्रसन्नता से शीघ्र गति वाले राजा ने धाई की गोद से कुमार को लेकर तपोधन के लिए दिया ॥ ५९ ॥

चक्राङ्कपादं स ततो महर्षिर्जालावनद्धाङ्गुलिपाणिपादम्।
सोर्णभ्रुवं वारणवस्तिकोशं सविस्मयं राजसुतं ददर्श ॥ ६० ॥

तब महर्षि ने आश्चर्य सहित राजपुत्र को देखा—उसके पैरों में चक्र के चिह्न थे, अङ्गुलियों हाथों एवं पैरों में रेखाओं के जाल बिछे हुए थे, भौंहें बालों से युक्त थीं एवं अण्डकोश हाथी के समान सूक्ष्म थे ॥ ६० ॥

धात्र्यङ्कसंविष्टमवेक्ष्य चैनं देव्यङ्कसंविष्टमिवाग्निसूनुम्।
बभूव पक्ष्मान्तविचञ्चिताश्रुर्निश्वस्य चैव त्रिदिवोन्मुखोऽभूत् ॥६१॥

देवी (पार्वती) की गोद में सोये हुए अग्निसूनु (कार्तिकेय) के समान, धाई की गोद में सोये हुए इस कुमार को देखकर, महर्षि, जिनकी पपनियों पर आँसू आ गये थे, लम्बी सांसें लेकर आकाश की ओर देखने लगे ॥ ६१ ॥

दृष्ट्वासितं त्वश्रुपरिप्लुताक्षं स्नेहात्तनूजस्य नृपश्चकम्पे।
सगद्गदं बाष्पकषायकण्ठः पप्रच्छ स प्राञ्जलिराननताङ्गः ॥ ६२ ॥

आँसुओं से तराबोर नेत्र वाले असित को देखकर पुत्र-वात्सल्य से राजा कांप गया। उसका कण्ठ बाष्प से भारी हो गया। सिर झुकाये, तथा हाथ जोड़े हुए गद्गद स्वर में उसने पूछा—॥ ६२ ॥

अल्पान्तरं यस्य वपुः सुरेभ्यो बह्वद्भुतं यस्य च जन्म दीप्तम्।
तस्योत्तमं भाविनमात्थ चार्थं तं प्रेक्ष्य कस्मात्तव धीर बाष्पः ॥ ६३ ॥

हे धीर ! (आपने) जिसका शरीर देवताओं से थोड़े ही अन्तर का, जिसका देदीप्यमान जन्म बहुत अद्भुत !एवं जिसका भावी अर्थ उत्तम कहा है उसे देखकर आपको आँसू क्यों आये ॥ ६३ ॥

अपि स्थिरायुर्भगवन् कुमारः कच्चिन्न शोकाय मम प्रसूतः।
लब्धा कथंचित्सलिलाञ्जलिर्मे न खल्विमं पातुमुपैति कालः ॥ ६४ ॥

हे भगवान् ! कुमार दीर्घायु है न ? मेरे शोक के लिये तो नहीं जन्मा है ? जो जलांजलि मुझे बड़ी कठिनाई से प्राप्त है उसे पीने के लिये काल तो नहीं आ रहा है ? मुझे मृत्यु के बाद जलाञ्जलि देने के लिये कुमार जीवित तो रहेगा न ? ॥ ६४ ॥

अप्यक्षयं मे यशसो निधानं कच्चिद्ध्रुवो मे कुलहस्तसारः।
अपि प्रयास्यामि सुखं परत्र सुप्तोऽपि पुत्रेऽनिमिषैकचक्षुः ॥ ६५ ॥

मेरे यश के कोष अक्षय हैं न ? मेरे पूर्वजों की कमाई (राज्य) निश्चल तो है ? पुत्र के प्रति एक आँख खुली रखने वाला मैं सुखपूर्वक परलोक जाऊँगा ? ॥ ६५ ॥

कच्चिन्न मे जातमफुल्लमेव
कुलप्रवालं परिशोषभागि ।
क्षिप्रं विभो ब्रूहि न मेऽस्ति शान्तिः
स्नेहं सुते वेत्सि हि बान्धवानाम् ॥ ६६ ॥

क्या मेरा यह नव जात कुल का अङ्कुर बिना फूले सूख तो नहीं जायगा! हे विभो ! शीघ्र बतावें, मुझे शान्ति नहीं है, क्योंकि पुत्र के प्रति पिता का प्रेम आप जानते ही हैं ॥ ६६ ॥

इत्यागतावेगमनिष्टबुद्ध्या बुद्ध्वा नरेन्द्रं स मुनिर्बभाषे ।
मा भून्मतिस्ते नृप काचिदन्या निःसंशयं तद्यदवोचमस्मि ॥ ६७ ॥

अनिष्ट के भय से इस प्रकार भयभीत होने वाले राजा से उस मुनि ने कहा—हे राजन् ! आपकी धारणा अन्य प्रकार की नहीं होनी चाहिये, जो कुछ मैंने कहा है, वह निस्सन्देह होगा ॥ ६७ ॥

नास्यान्यथात्वं प्रति विक्रिया मे स्वां वञ्चनां तु प्रति विक्लवोऽस्मि।
कालो हि मे यातुमयं च जातो जातिक्षयस्यासुलभस्य बोद्धा ॥६८॥

इसके अनिष्ट के प्रति मुझे विकार नहीं हुआ है, मैं वञ्चित हो रहा हूँ इसीलिये मैं विकल हूँ। मेरे जाने का यह समय (मरण काल) आ गया है एवं जन्मनाश के सुलभ उपायों को जानने वाला यह उत्पन्न हुआ है ॥६८॥

विहाय राज्यं विषयेष्वनास्थस्तीव्रैः प्रयत्नैरधिगम्य तत्त्वम् ।
जगत्ययं मोहमतो निहन्तुं ज्वलिष्यति ज्ञानमयो हि सूर्यः ॥ ६९ ॥

विषयों में अनासक्त होकर राज्य त्याग देगा, तीव्र प्रयत्नों से तत्त्व प्राप्त करके संसार में मोह रूप अंधकार को नष्ट करने के लिए यह ज्ञान रूप सूर्य प्रकाशित होगा ॥ ६९ ॥

दुःखार्णवाद् व्याधिविकीर्णफेनाज्जरातरङ्गान्मरणोग्रवेगात् ।
उत्तारयिष्यत्ययमुह्यमानमार्तं जगज्ज्ञानमहाप्लवेन ॥ ७० ॥

व्याधि रूप फेन से व्याप्त, जरा रूप तरंग वाला मृत्यु रूप तीव्र वेगवान् दुःख समुद्र से बहते हुए पीड़ित संसार को यह ज्ञान रूप विशाल नौका के द्वारा पार उतारेगा ॥ ७० ॥

प्रज्ञाम्बुवेगां स्थिरशीलवप्रां समाधिशीतां व्रतचक्रवाकाम् ।
अस्योत्तमां धर्मनदीं प्रवृत्तां तृष्णार्दितः पास्यति जीवलोकः ॥७१॥

यह, प्रज्ञा रूप जलप्रवाह वाली, अचल शील रूप तट वाली, समाधि रूप शीतलता युक्त व्रत रूप चक्रवाक (पक्षी) से व्याप्त उत्तम धर्म नदी बहायगा तथा तृष्णा रूप प्यास से व्याकुल संसारी जीव उस नदी का जल पीयेंगे ॥ ७१ ॥

दुःखार्दितेभ्यो विषयावृतेभ्यः संसारकान्तारपथस्थितेभ्यः ।
आख्यास्यति ह्येष विमोक्षमार्गं मार्गप्रनष्टेभ्य इवाध्वगेभ्यः ॥ ७२ ॥

विषयों से लिप्त दुःखों से पीड़ित संसार रूप जंगली पथ के पथिकों को यह मोक्ष मार्ग बतावेगा, जैसे मार्ग से भटके हुए पथिकों को बताया जाता है ॥ ७२ ॥

विदह्यमानाय जनाय लोके रागाग्निनायं विषयेन्धनेन ।
प्रह्लादमाधास्यति धर्मवृष्ट्या वृष्ट्या महामेघ इवातपान्ते ॥ ७३ ॥

यह, संसार में विषय रूप लकड़ी वाली राग रूप अग्नि से जल रहे लोगों को धर्म की वर्षा करके शीतल करेगा जैसे ग्रीष्मावसान में महामेघ जल वर्षा कर जगत को शीतलता देता है ॥ ७३ ॥

तृष्णार्गलं मोहतमःकपाटं द्वारं प्रजानामपयानहेतोः ।
विपाटयिष्यत्ययमुत्तमेन सद्धर्मताडेन दुरासदेन ॥ ७४ ॥

यह, प्रजाओं के निकलने (मोक्ष) के लिये तृष्णा रूप अर्गला वाले मोहान्धकार रूप दरवाजे को उत्तम दुर्धर्ष धर्म के प्रहार से फाड़ डालेगा ॥७४॥

स्वैर्मोहपाशैः परिवेष्टितस्य दुःखाभिभूतस्य निराश्रयस्य ।
लोकस्य संबुध्य च धर्मराजः करिष्यते बन्धनमोक्षमेषः ॥ ७५ ॥

यह धर्म का राजा होगा एवं बुद्धत्व प्राप्त करके अपने मोह-पाश से बँधे हुए, दुःख से पीड़ित आश्रयहीन जगत् का बन्धन खोलेगा ॥ ७५ ॥

तन्मा कृथाः शोकमिमं प्रति त्वमस्मिन्स शोच्योऽस्ति मनुष्यलोके ।
मोहेन वा कामसुखैर्मदाद्वा यो नैष्ठिकं श्रोष्यति नास्य धर्मम् ॥७६॥

अतः आप इसके लिये शोक न करें, इस मनुष्य लोक में वह सोचने

योग्य होगा जो मोह से या विषय सुख की आसक्ति से अथवा मद के कारण इसका नैष्ठिक धर्म नहीं सुनेगा ॥ ७६ ॥

भ्रष्टस्य तस्माच्च गुणादतो मे ध्यानानि लब्ध्वाप्यकृतार्थतैव ।
धर्मस्य तस्याश्रवणादहं हि मन्ये विपत्तिं त्रिदिवेऽपि वासम् ॥७७॥

और मैं इस गुण (इसके धर्म) से भ्रष्ट (वंचित) रह जाऊँगा, अतः ध्यान (योग) को प्राप्त करके भी मैं अकृतार्थ ही रहा क्योंकि उस (नैष्ठिक) धर्म को न सुनने के कारण स्वर्गवास को भी मैं विपत्ति मानता हूँ ॥ ७७ ॥

इति श्रुतार्थः ससुहृत्सदारस्त्यक्त्वा विषादं मुमुदे नरेन्द्रः ।
एवंविधोऽयं तनयो ममेति मेने स हि स्वामपि सारवत्ताम् ॥ ७८ ॥

राजा, इस प्रकार अर्थ (बातें) सुनकर मित्रों एवं पत्नियों सहित दुःख छोड़कर आनन्दित हुआ। 'मेरा यह पुत्र ऐसा है !'—यह विचार कर अपने को सौभाग्यवान् माना ॥ ७८ ॥

आर्षेण मार्गेण तु यास्यतीति चिन्ताविधेयं हृदयं चकार ।
न खल्वसौ न प्रियधर्मपक्षः संताननाशात्तु भयं ददर्श ॥ ७९ ॥

'यह ऋषियों के मार्ग पर चलेगा'—इससे उसे हृदय में चिन्ता हुई। वह धर्मप्रिय नहीं था—ऐसी बात नहीं है (अपितु) उसने सन्तति-विच्छेद का भय देखा ॥ ७९ ॥

अथ मुनिरसितो निवेद्य तत्त्वं सुतनियतं सुतविक्लवाय राज्ञे ।
सबहुमतमुदीक्ष्यमाणरूपः पवनपथेन यथागतं जगाम ॥ ८० ॥

तब असित मुनि, पुत्र के सम्बन्ध में व्याकुल राजा से पुत्र के नियत (अवश्यम्भावी) तत्त्व बताकर, लोगों के द्वारा सम्मानपूर्वक देखते ही देखते वायु मार्ग से जैसे आये थे वैसे ही चले गये ॥ ८० ॥

कृतमितिरनुजासुतं च दृष्ट्वा मुनिवचनश्रवणे च तन्मतौ च ।
बहुविधमनुकम्पया स साधुः प्रियसुतवद्विनियोजयांचकार ॥ ८१ ॥

कृतार्थ बुद्धि उस साधु (असित) ने अपनी बहिन के पुत्र (भांजे) को देखकर अत्यधिक अनुकम्पा से मुनि (बुद्ध) के वचन सुनने तथा उसके मत में चलने के लिये प्रिय पुत्र के समान अनुशासित किया ॥ ८१ ॥

नरपतिरपि पुत्रजन्मतुष्टो विषयगतानि विमुच्य बन्धनानि ।
कुलसदृशमचीकरद्यथावत् प्रियतनयस्तनयस्य जातकर्म ॥ ८२ ॥

राजा ने भी पुत्र-जन्म की खुशी में राज्य के सभी बन्धनों (कैदियों) को छोड़ दिया और उस प्रिय-पुत्र ने अपने पुत्र का कुल के अनुसार जात-कर्म संस्कार करवाया ॥ ८२ ॥

दशसु परिणतेष्वहःसु चैव प्रयतमनाः परया मुदा परीतः ।
अकुरुत जपहोममंगलाद्याः परमभवाय सुतस्य देवतेज्याः ॥ ८३ ॥

परम आनन्द से विभोर होकर उस प्रयत्नशील ने दस दिन बीतने पर पुत्र के परम कल्याण के लिये जप, होम, मङ्गल आदि कर्म के द्वारा देव यज्ञ किया ॥ ८३ ॥

अपि च शतसहस्रपूर्णसंख्याः स्थिरबलवत्तनयाः सहेमश्रृङ्गीः ।
अनुपगतजराः पयस्विनीर्गाः स्वयमदादात्सुतवृद्धये द्विजेभ्यः ॥ ८४ ॥

तथा जो बूढ़ी नहीं थीं, जिनके बछड़े पुष्ट एवं बलवान थे एवं सींगें स्वर्ण से मढ़ी थीं ऐसी दूध देनेवाली एक लाख गायें पुत्र की उन्नति के लिये ब्राह्मणों को दीं ॥ ८४ ॥

बहुविधविषयास्ततो यतात्मा स्वहृदयतोषकरीः क्रिया विधाय ।
गुणवति नियते शिवे मुहूर्ते मतिमकरोन्मुदितः पुरप्रवेशे ॥ ८५ ॥

प्रसन्नचित्त उस जितेन्द्रिय ने हृदय को संतुष्ट करने वाली अनेक प्रकार की क्रियाएँ करके शास्त्र-विहित गुणयुक्त मंगलमय मुहूर्त में वहाँ से नगर में प्रवेश करने का विचार किया ॥ ८५ ॥

द्विरदरदमयीमथो महार्हां सितसितपुष्पभृतां मणिप्रदीपाम् ।
अभजत शिविकां शिवाय देवी तनयवती प्रणिपत्य देवताभ्यः ॥ ८६ ॥

इसके बाद पुत्रवती देवी मङ्गलाचरण के लिये देवताओं को प्रणाम करके हाथी-दाँत से निर्मित एवं उज्ज्वल सफ़ेद फूलों से सुसज्जित मणि-प्रदीपों से युक्त बहुमूल्य पालकी पर चढ़ी ॥ ८६ ॥

पुरमथ पुरतः प्रवेश्य पत्नीं स्थविरजनानुगतामपत्यनाथाम् ।
नृपतिरपि जगाम पौरसंघैर्दिवममरैर्मघवानिवार्च्यमानः ॥ ८७ ॥

तब वृद्धजनों से अनुगत एवं पुत्र के साथ पत्नी को पहिले नगर प्रवेश कराकर राजा भी, जैसे देवताओं द्वारा सम्मानित होते हुए इन्द्र, देवलोक में प्रवेश करता है, वैसे ही पुरवासियों द्वारा सम्मानित हो, नगर में गया ॥ ८७ ॥

भवनमथ विगाह्य शाक्यराजो भव इव षण्मुखजन्मना प्रतीतः ।
इदमिदमिति हर्षपूर्णवक्त्रो बहुविधपुष्टियशा

तब भवन में प्रवेश करके शाक्यराज, कार्तिकेय के जन्म से शिव के समान, प्रफुल्लित हुआ एवं प्रसन्नमुख से 'यह करो', 'वह करो' कहते हुए (पुत्र के) पुष्टिकारक और यशस्कर कर्म उसने करवाये ॥ ८८ ॥

इति नरपतिपुत्रजन्मवृद्धया सजनपदं कपिलाह्वयं पुरं तत् ।
धनदपुरमिवाप्सरोऽवकीर्णं मुदितमभून्नलकूबरप्रसूतौ ॥ ८९ ॥

इति श्री अश्वघोषकृते पूर्वबुद्धचरितमहाकाव्ये
भगवत्प्रसूतिर्नाम प्रथमः सर्गः ।

राजकुमार के समृद्धिकारी जन्म से जनपदों सहित कपिल नामक वह नगर इस प्रकार प्रमुदित हुआ जैसे नलकूबर के जन्म से अप्सराओं से पूर्ण कुबेर का नगर ॥ ८९ ॥

यह पूर्वबुद्धचरित महाकाव्य में भगवान् का जन्म नामक
प्रथम सर्ग समाप्त हुआ

—:०:—

अथ द्वितीयः सर्गः

अन्तःपुर-विहारः

अन्तःपुरविहार

आ जन्मनो जन्मजरान्तकस्य तस्यात्मजस्यात्मजितः स राजा ।
अहन्यहन्यर्थगजाश्वमित्रैर्वृद्धिं ययौ सिन्धुरिवाम्बुवेगैः ॥ १ ॥

जन्म एवं वृद्धत्व का अन्त करने वाले उस जितेन्द्रिय पुत्र के जन्म-काल से ही वह राजा प्रतिदिन धन-धान्य-हाथी-घोड़ों से इस प्रकार बढ़ने लगा जिस प्रकार कि जल के प्रवाह से नदी बढ़ती है ॥ १ ॥

धनस्य रत्नस्य च तस्य तस्य कृताकृतस्यैव च काञ्चनस्य ।
तदा हि नैकान्स निधीनवाप मनोरथस्याप्यतिभारभूतान् ॥ २ ॥

धन की, रत्न की और तत्तत्प्रकार के निर्मित, अनिर्मित स्वर्ण की असंख्य निधियाँ उसने पाईं जो कि मनोरथ के लिये भी भारभूत थीं (मनोरथ से अधिक थीं) ॥ २ ॥

ये पद्मकल्पैरपि च द्विपेन्द्रैर्न मण्डलं शक्यमिहाभिनेतुम् ।
मदोत्कटा हैमवता गजास्ते विनापि यत्नादुपतस्थुरेनम् ॥ ३ ॥

जो मण्डल (हाथी झुण्ड) पद्मकल्प (पद्मपति) गजपतियों के द्वारा भी यहाँ नहीं लाये जा सकते थे वे हिमालय के मतवाले हाथी, राजा के पास अनायास उपस्थित हो गये ॥ ३ ॥

नानाङ्कचिह्नैर्नवहेमभाण्डैर्विभूषितैर्लम्बसटैस्तथान्यैः ।
संचुक्षुभे चास्य पुरं तुरङ्गैर्बलेन मैत्र्या च धनेन चाप्तैः ॥ ४ ॥

बल (सैन्य) से, मित्र से, धन (मूल्य) से प्राप्त अनेक शुभ चिह्नों से चिह्नित, नवीन स्वर्ण-भूषणों से भूषित एवं लम्बे केश वाले अश्वों से उसका नगर क्षुब्ध हो गया ॥ ४ ॥

पुष्टाश्च तुष्टाश्च तदास्य राज्ये साध्व्योऽरजस्का गुणवत्पयस्काः ।
उदग्रवत्सैः सहिता बभूवुर्बह्व्यो बहुक्षीरदुहश्च गावः ॥ ५॥

उसके राज्य में पुष्ट, सीधी, प्रसन्न, उज्ज्वल, गुणमय तथा अधिक दूध देने वाली, उन्नत बछड़े वाली गायें थीं ॥ ५ ॥

मध्यस्थतां तस्य रिपुर्जगाम मध्यस्थभावः प्रययौ सुहृत्त्वम् ।
विशेषतो दार्ढ्यमियाय मित्रं द्वावस्य पक्षावपरस्तु नास ॥ ६ ॥

उस राजा का शत्रु मध्यस्थ बन गया, मध्यस्थ मित्र, एवं मित्र अत्यन्त दृढ़ मित्र बन गया । उसके दो ही पक्ष रह गये, तीसरा पक्ष (शत्रु) नहीं ॥६॥

तथास्य मन्दानिलमेघशब्दः सौदामिनीकुण्डलमण्डिताङ्गः ।
विनाश्मवर्षाशनिपातदोषैः काले च देशे प्रववर्ष देवः ॥ ७ ॥

उसके राज्य में मन्द पवन और गर्जन से युक्त सौदामिनी रूप कुण्डल से मण्डित देव (इन्द्र) ने, वज्रपात एवं अश्म-दोष से रहित वर्षा उचित देश-काल में की ॥ ७ ॥

रुरोह सस्यं फलवद्यथर्तु तदाऽकृतेनापि कृषिश्रमेण ।
ता एव चास्यौषधयो रसेन सारेण चैवाभ्यधिका बभूवुः ॥ ८ ॥

उस समय बिना श्रम के भी कृषि फलयुक्त धान्य समय पर उत्पन्न हुआ । उस राजा के लिये वे ही औषधियाँ अधिक रस एवं सार (पौष्टिक तत्त्व) से सम्पन्न हुई ॥ ८ ॥

शरीरसन्देहकरेऽपि काले संग्रामसंमर्द इव प्रवृत्ते ।
स्वस्थाः सुखं चैव निरामयं च प्रजज्ञिरे कालवशेन नार्यः ॥ ९ ॥

संग्राम के संघर्ष की भाँति शरीर के लिये सन्देह (मृत्यु) कारक प्रसवकाल आने पर भी स्त्रियों ने स्वस्थ रहकर यथासमय सुखपूर्वक बिना किसी रोग के प्रसव किया ॥ ९ ॥

पृथग्व्रतिभ्यो विभवेऽपि गर्ह्ये न प्रार्थयन्ति स्म नराः परेभ्यः ।
अभ्यर्थितः सूक्ष्मधनोऽपि चार्यस्तदा न कश्चिद्विमुखो बभूव ॥ १० ॥

व्रतियों (बौद्ध भिक्षुओं) को छोड़कर दूसरे लोगों ने अपना धन क्षीण

होने पर भी किसी से याचना नहीं की तथा आर्य गण सूक्ष्म (थोड़ा) धन होने पर भी, माँगे जाने पर विमुख नहीं हुए ॥ १० ॥

नागौरवो बन्धुषु नाप्यदाता नैवाव्रतो नानृतिको न हिंस्रः ।
आसीत्तदा कश्चन तस्य राज्ये राज्ञो ययातेरिव नाहुषस्य ॥ ११ ॥

नहुष के पुत्र ययाति के समान उस राजा के राज्य में बन्धुओं का अनादर करने वाला तथा अदाता, अव्रती, मिथ्यावादी एवं हिंसक कोई नहीं था ॥ ११ ॥

उद्यानदेवायतनाश्रमाणां कूपप्रपापुष्करिणीवनानाम् ।
चक्रुः क्रियास्तत्र च धर्मकामाः प्रत्यक्षतः स्वर्गमिवोपलभ्य ॥१२॥

धर्माभिलाषी लोगों ने साक्षात् स्वर्ग के समान समझकर, उसके राज्य में उद्यान, देवमन्दिर, आश्रम, कुआ, पौसरा, तालाब व उपवन बनाये एवं शुभ कार्य किये ॥ १२ ॥

मुक्तश्च दुर्भिक्षभयामयेभ्यो हृष्टो जनः स्वर्ग इवाभिरेमे ।
पत्नीं पतिर्वा महिषी पतिं वा परस्परं न व्यभिचेरतुश्च ॥ १३ ॥

दुर्भिक्ष और रोग के भय से रहित लोग प्रसन्न एवं स्वर्गीय सुख से सुखी थे। पति ने पत्नी के प्रति तथा पत्नी ने पति के प्रति कोई विरुद्ध आचरण नहीं किये ॥ १३ ॥

कश्चित्सिषेवे रतये न कामं कामार्थमर्थं न जुगोप कश्चित् ।
कश्चिद्धनार्थं न चचार धर्मं धर्माय कश्चिन्न चकार हिंसाम् ॥ १४ ॥

इन्द्रिय-तृप्ति के लिये किसी ने काम का सेवन नहीं किया, भोग के लिये किसी ने धन की रक्षा नहीं की, किसी ने धन के लिये धर्माचरण नहीं किया और न किसी ने धर्म के लिये हिंसा की ॥ १४ ॥

स्तेयादिभिश्चाप्यरिभिश्च नष्टं स्वस्थं स्वचक्रं परचक्रमुक्तम् ।
क्षेमं सुभिक्षं च बभूव तस्य पुरानरण्यस्य यथैव राष्ट्रम् ॥ १५ ॥

प्राचीन काल में अनरण्य के राज्य की भाँति उसका राज्य चोर, शत्रु आदि से रहित, स्वस्थ एवं विदेशी शासन से मुक्त, स्वतन्त्र, सुखी एवं धनधान्य से परिपूर्ण था ॥ १५ ॥

तदा हि तज्जन्मनि तस्य राज्ञो मनोरिवादित्यसुतस्य राज्ये।
चचार हर्षः प्रणनाश पाप्मा जज्वाल धर्मः कलुषः शशाम ॥ १६ ॥

सूर्य-पुत्र मनु के राज्य की तरह उस राजा के राज्य में उस बालक
जन्म-काल में हर्ष का संचार हुआ, पाप का नाश हुआ, धर्म प्रज्वलित हु
एवं कलुषता मिट गई ॥ १६ ॥

एवंविधा राजकुलस्य संपत्-सर्वार्थसिद्धिश्च यतो बभूव।
ततो नृपस्तस्य सुतस्य नाम सर्वार्थसिद्धोऽयमिति प्रचक्रे ॥ १७ ॥

जिसके जन्म के कारण इस प्रकार राजकुल की ऐसी सम्पत्ति एवं सर्वा
सिद्धि हुई अतः राजा ने उस बालक का नाम 'सर्वार्थसिद्ध' ऐसा रखा ॥ १७

देवी तु माया विबुधर्षिकल्पं दृष्ट्वा विशालं तनयप्रभावम्।
जातं प्रहर्षं न शशाक सोढुं ततो निवासाय दिवं जगाम ॥ १८ ॥

माया देवी अपने पुत्र का देवर्षि सदृश विशाल प्रभाव देखकर (हृद
में) उत्पन्न हर्ष को न सम्हाल सकीं अतः निवास के लिये स्वर्ग चलीं
गईं ॥ १८ ॥

ततः कुमारं सुरगर्भकल्पं स्नेहेन भावेन च निर्विशेषम्।
मातृष्वसा मातृसमप्रभावा संवर्धनायात्मजवद् बभूव ॥ १९ ॥

तब माता के सदृश स्वभाव वाली मौसी ने विशेष प्यार एवं भाव से सं
न की भाँति उस देवतुल्य बालक का पालन-पोषण किया ॥ १९ ॥

ततः स बालार्क इवोदयस्थः समीरितो वह्निरिवानिलेन।
क्रमेण सम्यग्ववृधे कुमारस्ताराधिपः पक्ष इवातमस्के ॥ २० ॥

तब वह बालक, उदयाचल पर उदित सूर्य की भांति, वायु से प्रेरित अग्नि
के समान, शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की तरह क्रमशः बढ़ने लगा ॥ २० ॥

ततो महार्हाणि च चन्दनानि रत्नावलीश्चौषधिभिः सगर्भाः।
मृगप्रयुक्तान् रथकांश्च हैमानाचक्रिरेऽस्मै सुहृदालयेभ्यः ॥ २१ ॥

तब मित्रों के घरों से उस बालक के लिये उपहार के रूप में निम्न प्रकार
की वस्तुएँ आने लगीं यथा—बहुमूल्य चन्दन, औषधियुक्त मोतियों की माला,
स्वर्ण के बने हुए छोटे-छोटे पशुयुक्त रथ ॥ २१ ॥

वयोऽनुरूपाणि च भूषणानि हिरण्मयान् हस्तिमृगाश्वकांश्च ।
रथांश्च गोपुत्रकसंप्रयुक्तान् पुत्रीश्च चामीकररूप्यचित्राः ॥ २२ ॥

अवस्था के अनुकूल अलङ्कार, स्वर्ण के बने हुए छोटे छोटे हाथी, पशु, घोड़े, बछड़े जुते हुए रथ, रजत-स्वर्ण से निर्मित चित्र-विचित्र पुतलियां ॥२२॥

एवं स तैस्तैर्विषयोपचारैर्वयोऽनुरूपैरुपचर्यमाणः ।
बालोऽप्यबालप्रतिमो बभूव धृत्या च शौचेन धिया श्रिया च ॥२३॥

इस प्रकार वह बालक अवस्था के अनुकूल उन समस्त विषयों के उपचार से सेवित होने पर भी, धैर्य, पवित्रता, बुद्धि एवं वैभव से प्रौढ़ के समान प्रतीत होता था ॥ २३ ॥

वयश्च कौमारमतीत्य सम्यक् संप्राप्य काले प्रतिपत्तिकर्म ।
अल्पैरहोभिर्बहुवर्षगम्या जग्राह विद्याः स्वकुलानुरूपाः ॥ २४ ॥

उसने कुमार अवस्था को बिताकर (उचित) समय में उपनयनादि संस्कार से विधिवत् सुसंस्कृत होकर बहुत वर्षों में सीखी जाने वाली अपने कुल के अनुरूप विद्या थोड़े ही दिनों में सीख ली ॥ २४ ॥

नैःश्रेयसं तस्य तु भव्यमर्थं श्रुत्वा पुरस्तादसितान्महर्षेः ।
कामेषु सङ्गं जनयांबभूव वनं न यायादिति शाक्यराजः ॥ २५ ॥

असित महर्षि से पहिले ही उसका भविष्य 'मोक्ष-प्राप्ति' सुनकर, 'यह वन को न जावे—' अतः शाक्यराज ने उसकी आसक्ति विषयों में उत्पन्न की ॥ २५ ॥

कुलात्ततोऽस्मै स्थिरशीलयुक्तात्साध्वीं वपुर्ह्री-विनयोपपन्नाम् ।
यशोधरां नाम यशोविशालां वामाभिधानां श्रियमाजुहाव ॥ २६ ॥

तब स्थायी शील से युक्त कुल से साध्वी, सुन्दर शरीर, लज्जा, विनय से उपपन्न एवं विशाल यश वाली यशोधरा नाम की कन्या को, जो कि स्त्रियों में लक्ष्मी सदृश थी, उस (राजकुमार) के लिये बुलाया ॥ २६ ॥

विद्योतमानो वपुषा परेण सनत्कुमारप्रतिमः कुमारः ।
सार्धं तया शाक्यनरेन्द्रवध्वा शच्या सहस्राक्ष इवाभिरेमे ॥ २७ ॥

अत्यन्त सुन्दर शरीर से देदीप्यमान सनत्कुमार के सदृश उस राजकुमार ने उस शाक्य-नरेन्द्र की वधू के साथ, इन्द्राणी के साथ इन्द्र की भाँति रमण किया ॥ २७ ॥

किञ्चिन्मनः क्षोभकरं प्रतीपं कथं न पश्येदिति सोऽनुचिन्त्य ।
वासं नृपो व्यादिशति स्म तस्मै हर्म्योदरेष्वेव न भूप्रचारम् ॥ २८ ॥

'मन को क्षुभित करने वाला कोई प्रतिकूल दृश्य, (कुमार) किसी तरह न देख सके' ऐसा विचार करके वह नृप उस कुमार के लिये, महल के अन्दर ही रहने की आज्ञा देता था, बाहर घूमने की नहीं ॥ २८ ॥

ततः शरत्तोयदपाण्डुरेषु भूमौ विमानेष्विव रंजितेषु ।
हर्म्येषु सर्वर्तुसुखाश्रयेषु स्त्रीणामुदारैर्विजहार तूर्यैः ॥ २९ ॥

तब शरत्कालीन मेघ के सदृश शुभ्र पृथ्वी पर उतरे हुए स्वर्गीय विमान के तुल्य सर्वदा सुख देने वाले महलों में, स्त्रियों के मनोरम तूर्य-वीणा आदि नाद से विहार करने लगे ॥ २९ ॥

कलैर्हि चामीकरबद्धकक्षैर्नारीकराग्राभिहतैर्मृदङ्गैः ।
वराप्सरोनृत्यसमैश्च नृत्यैः कैलासवत्तद्भवनं रराज ॥ ३० ॥

स्वर्ण से मढ़े मध्यवाले तथा स्त्रियों के कराग्र से बजाये गये मधुर ध्वनित मृदङ्गों से एवं श्रेष्ठ अप्सराओं के नृत्य से वह भवन कैलाश-सदृश सुशोभित हुआ ॥ ३० ॥

वाग्भिः कलाभिर्ललितैश्च हावैर्मदैः सखेलैर्मधुरैश्च हासैः ।
तं तत्र नार्यो रमयाम्बभूवुर्भ्रूवञ्चितैरर्धनिरीक्षितैश्च ॥ ३१ ॥

मधुर-वाणी से, ललित कलाओं (क्रीडाओं) से, मतवाले हाव-भावों से क्रीड़ायुक्त मधुर हास्य से अर्धोन्मीलित भ्रूभंग-कटाक्ष से युवतियों ने उसे वहाँ रमाया ॥ ३१ ॥

ततः स कामाश्रयपण्डिताभिः स्त्रीभिर्गृहीतो रतिकर्कशाभिः ।
विमानपृष्ठान्न महीं जगाम विमानपृष्ठादिव पुण्यकर्मा ॥ ३२ ॥

तब काम-कला में पण्डित, रतिक्रीड़ा में कर्कश (दृढ), स्त्रियों द्वारा फँसाये गये राजकुमार, राजप्रासाद से भूमि पर उसी तरह नहीं उतरे जैसे पुण्यात्मा स्वर्ग से नीचे नहीं आते ॥ ३२ ॥

नृपस्तु तस्यैव विवृद्धिहेतोस्तद्भाविनार्थेन च चोद्यमानः।
शमेऽभिरेमे विरराम पापाद् भेजे दमं संविबभाज साधून् ॥ ३३ ॥

राजा तो उसी की वृद्धि के लिये उसकी भावी भावना से प्रेरित होकर शम में प्रसन्न हुआ, पाप से विमुख हुआ, दम का अवलम्ब लिया तथा उसने साधुओं को धन दिया ॥ ३३ ॥

नाधीरवत्कामसुखे ससञ्जे न संररञ्जे विषमं जनन्याम्।
धृत्येन्द्रियाश्वांश्चपलान्विजिग्ये बन्धूंश्च पौरांश्च गुणैर्जिगाय ॥ ३४ ॥

वह अधीर पुरुष की तरह विषय-सुख में आसक्त नहीं हुआ, स्त्रियों में (उसका) अनुचित अनुराग नहीं हुआ। उसने धैर्य से, चपल घोड़ों की तरह इन्द्रियों को वश में किया तथा गुणों से बन्धुवर्ग एवं पुरवासियों को जीत लिया ॥ ३४ ॥

नाध्यैष्ट दुःखाय परस्य विद्यां ज्ञानं शिवं यत्तु तदध्यगीष्ट।
स्वाभ्यः प्रजाभ्यो हि यथा तथैव सर्वप्रजाभ्यः शिवमाशशंसे ॥ ३५ ॥

दूसरों के दुःख के लिये (उसने) विद्या-आदि नहीं सीखी अपितु सुख देनेवाले पवित्र ज्ञान का अध्ययन किया। अपने सगे पुत्र की भाँति सब प्रजाओं के लिये सुख की कामना की ॥ ३५ ॥

भं भासुरं चाङ्गिरसाधिदेवं यथावदानर्च तदायुषे सः।
जुहाव हव्यान्यकृशे कृशानौ ददौ द्विजेभ्यः कृशनं च गाश्च ॥ ३६ ॥

उसकी दीर्घायु की कामना से राजा ने शुक्र अधिदेव युक्त ग्रह-चक्र की विधिवत् पूजा की, प्रज्वलित अग्नि में आहुति दी तथा ब्राह्मणों को गाय एवं स्वर्ण दिये ॥ ३६ ॥

सस्नौ शरीरं पवितुं मनश्च तीर्थाम्बुभिश्चैव गुणाम्बुभिश्च।
वेदोपदिष्टं सममात्मजं च सोमं पपौ शान्तिसुखं च हार्दम् ॥ ३७ ॥

शरीर शुद्धि के लिये तीर्थों के जल में तथा मन की पवित्रता के लि गुणरूप जल में स्नान किया। वेद-विहित सोम रस के साथ-साथ अपने ही उत्पन्न हार्दिक शान्ति-सुख का पान किया ॥ ३७ ॥

सान्त्वं बभाषे न च नार्थवद्यज्जजल्प तत्त्वं न च विप्रियं यत्।
सान्त्वं ह्यतत्त्वं परुषं च तत्त्वं ह्रियाशकन्नात्मन एव वक्तुम् ॥ ३८॥

(वह) सान्त्व (प्रिय वचन) बोला किन्तु यथार्थ ही बोला, व्यर्थ नहीं सत्य वचन बोला किन्तु अप्रिय सत्य नहीं बोला। अपना भी प्रिय असत्य ए कटु सत्य लज्जा से नहीं कह सका ॥ ३८ ॥

इष्टेष्वनिष्टेषु च कार्यवत्सु न रागदोषाश्रयतां प्रपेदे।
शिवं सिषेवे व्यवहारशुद्धं यज्ञं हि मेने न तथा यथा तत् ॥ ३९ ॥

कार्य करने वालों में, चाहे वे इष्ट किये हों या अनिष्ट किये हों, राग द्वेष नहीं किया। व्यवहार (राज्य-शासन) में कल्याणकारी निर्णय कि तथा यज्ञ को उतना महत्त्व नहीं दिया जितना व्यवहार (न्याय) को ॥ ३९ ॥

आशावते चाभिगताय सद्यो देयाम्बुभिस्तर्षमचेच्छिदिष्ट।
युद्धादृते वृत्तपरश्वधेन द्विड्दर्पमुद्वृत्तमबेभिदिष्ट ॥ ४० ॥

आशा लेकर आये हुए की प्यास को तत्काल दानरूप जल से छेदा द्वेषी के उद्धत अहंकार को युद्ध के बिना ही सदाचाररूपी कुठार से छे दिया ॥ ४० ॥

एकं विनिन्ये स जुगोप सप्त सप्तैव तत्याज ररक्ष पञ्च।
प्राप त्रिवर्गं बुबुधे त्रिवर्गं जज्ञे द्विवर्गं प्रजहौ द्विवर्गम् ॥ ४१ ॥

एक (मन) को वश में किया, सात (धातुओं) की रक्षा की, सा (मलों) का परित्याग किया, पाँच (तत्त्वों) की रक्षा की, त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ काम) को प्राप्त किया, त्रिवर्ग (शत्रु, मित्र, उदासीन) को समझा, द्विव (नीति-अनीति) को समझा तथा द्विवर्ग (काम-क्रोध) को त्यागा ॥ ४१ ॥

कृतागसोऽपि प्रतिपाद्य वध्यान्नाजीघनन्नापि रुषा ददर्श।
बबन्ध सान्त्वेन फलेन चैतांस्त्यागोऽपि तेषां ह्यनयाय दृष्टः ॥ ४२ ॥

अपराधियों को प्राणदण्ड निरूपित करके भी प्राणदण्ड नहीं दिया तथा क्रोध से भी नहीं देखा (अपितु) उनको सान्त्वना रूप फल से बांधा (शान्ति की शिक्षा दी) (साथ ही) उनको छोड़ना भी अन्याय समझा ॥ ४२ ॥

आर्षाण्यचारीत्परमव्रतानि वैराण्यहासीच्चिरसंभृतानि ।
यशांसि चापद् गुणगन्धवन्ति रजांस्यहार्षीन्मलिनीकराणि ॥ ४३ ॥

ऋषि-सम्बन्धित परम (पवित्र) व्रतों का पालन किया, चिरसंचित बैरों को त्यागा, गुण रूप गन्धवान् यश प्राप्त किया तथा मलिन करने वाली रजोवृत्ति को छोड़ा ॥ ४३ ॥

न चाजिहीर्षीद्बलिमप्रवृत्तं न चाचिकीर्षीत्परवस्त्वभिध्याम् ।
न चाविवक्षीद् द्विषतामधर्मं न चाविवक्षीद्धृदयेन मन्युम् ॥ ४४ ॥

प्रजाओं से अधिक कर लेना नहीं चाहा, पराई वस्तु हरने की इच्छा नहीं की, शत्रुओं का भी अधर्म (पाप) व्यक्त करना नहीं चाहा और हृदय से क्रोध वहन करना नहीं चाहा ॥ ४४ ॥

तस्मिंस्तथा भूमिपतौ प्रवृत्ते भृत्याश्च पौराश्च तथैव चेरुः ।
शमात्मके चेतसि विप्रसन्ने प्रयुक्तयोगस्य यथेन्द्रियाणि ॥ ४५ ॥

उस राजा का ऐसा आचरण होने पर उसके सेवकों ने तथा पुरवासियों ने भी वैसा ही आचरण किया जैसा योगयुक्त प्राणी के निर्मल शान्त चित्त में इन्द्रियां भी उसके अनुकूल हो जाती हैं ॥ ४५ ॥

काले ततश्चारुपयोधरायां यशोधरायां स्वयशोधरायाम् ।
शौद्धोदने राहुसपत्नवक्त्रो जज्ञे सुतो राहुल एव नाम्ना ॥ ४६ ॥

तब सुन्दर स्तन वाली एवं अपने यशरूप पुत्र को धारण करने वाली यशोधरा से शुद्धोदन के पुत्र को राहु के शत्रु (चन्द्रमा) के समान मुखवाला उत्पन्न हुआ, जिसका नाम भी राहुल ही हुआ ॥ ४६ ॥

यथेष्टपुत्रः परमप्रतीतः कुलस्य वृद्धिं प्रति भूमिपालः ।
यथैव पुत्रप्रसवे ननन्द तथैव पौत्रप्रसवे ननन्द ॥ ४७ ॥

तब पुत्र-प्रिय राजा को वंश के विस्तार का पूर्ण विश्वास हुआ, तथा जिस

प्रकार पुत्र के जन्म से प्रसन्नता हुई थी उसी तरह पौत्र-जन्मसे भी प्रसन्नता हुई

पुत्रस्य मे पुत्रगतो ममेव स्नेहः कथं स्यादिति जातहर्षः।
काले स तं तं विधिमालल्म्बे पुत्रप्रियः स्वर्गमिवारुरुक्षन् ॥ ४८ ॥

'मेरे ही समान मेरे पुत्र को भी अपने पुत्र में प्रेम होवे—' इस प्रसन्नता से उस पुत्र-प्रिय राजा ने यथासमय तत्-तत् धर्म का आचरण किया मानो स्वर्ग पर चढ़ने की इच्छा कर रहा हो ॥ ४८ ॥

स्थित्वा पथि प्राथमकल्पिकानां राजर्षभाणां यशसान्वितानाम्।
शुक्लान्यमुक्त्वापि तपांस्यतप्त यज्ञैश्च हिंसारहितैरयष्ट ॥ ४९॥

सत्य युग के कीर्तिमान् श्रेष्ठ राजाओं के मार्ग (आचरण) में स्थित होकर उसने वस्त्रों को बिना छोड़े तप किया एवं हिंसा-रहित यज्ञों से पूजन किया ॥४९॥

अजाज्वलिष्टाथ स पुण्यकर्मा नृपश्रिया चैव तपःश्रिया च।
कुलेन वृत्तेन धिया च दीप्तस्तेजः सहस्रांशुरिवोत्सिसृक्षुः ॥ ५० ॥

पुण्यकर्मा वह राजा राज-लक्ष्मी एवं तपस्या के तेज से प्रज्वलित हुआ, तथा अपने उज्ज्वल कुल, आचरण एवं बुद्धि से प्रदीप्त हुआ मानो सूर्य के समान तेज फैलाने की इच्छा कर रहा हो ॥ ५० ॥

स्वायंभुवं चार्चिकमर्चयित्वा जजाप पुत्रस्थितये स्थितश्रीः।
चकार कर्माणि च दुष्कराणि प्रजाः सिसृक्षुः क इवादिकाले ॥ ५१ ॥

स्थिर लक्ष्मी वाले उस राजा ने पुत्र के स्थायी जीवन के लिये पूज्य स्वयंभू की पूजा करके जप किया, तथा युग के आदि में प्रजाओं की सृष्टि करने की इच्छावाले ब्रह्मा के समान दुष्कर कर्म (तप) किया ॥ ५१ ॥

तत्याज शस्त्रं विममर्श शास्त्रं शमं सिषेवे नियमं विषेहे।
वशीव कञ्चिद्विषयं न भेजे पितेव सर्वान्विषयान्ददर्श ॥ ५२ ॥

उसने शस्त्र का परित्याग किया, शास्त्र का चिन्तन किया, शम का सेवन किया, नियम का पालन किया, जितेन्द्रिय के समान किसी विषय-भोग का उपभोग नहीं किया (अपितु) पिता के समान ही सब विषय (राज्य) को देखा चलाया ॥ ५२ ॥

बभार राज्यं स हि पुत्रहेतोः पुत्रं कुलार्थं यशसे कुलं तु।
स्वर्गाय शब्दं दिवमात्महेतोर्धर्मार्थमात्मस्थितिमाचकाङ्क्ष ॥ ५३ ॥

उस राजा ने पुत्र के लिये राज्य वहन किया, वंश के लिये पुत्र का पालन किया, यश के लिये कुल की रक्षा की, स्वर्ग के लिये शब्द (वेद) का अध्ययन किया तथा अपने लिये स्वर्ग की और धर्म के लिये अपने जीने की इच्छा की ॥ ५३ ॥

एवं स धर्मं विविधं चकार सद्भिर्निपातं श्रुतितश्च सिद्धम्।
दृष्ट्वा कथं पुत्रमुखं सुतो मे वनं न यायादिति नाथमानः ॥ ५४ ॥

इस तरह राजा ने सत्पुरुषों द्वारा सेवित एवं वेद-प्रतिपादित विविध धर्मों का सेवन (अनुष्ठान) किया। पुत्र का मुख देखकर यह प्रार्थना की कि मेरा पुत्र किसी प्रकार वन न जावे ॥ ५४ ॥

रिरक्षिषन्तः श्रियमात्मसंस्थां रक्षन्ति पुत्रान् भुवि भूमिपालाः।
पुत्रं नरेन्द्रः स तु धर्मकामो ररक्ष धर्माद्विषयेषु मुञ्चन् ॥५५॥

पृथ्वी पर राजा लोग पुत्र की रक्षा इसलिये करते हैं कि यह हमारी राज्यश्री की रक्षा करेगा। किन्तु इस धर्मात्मा राजा ने धर्म से विषयों का त्याग करते हुए 'इससे धर्म की रक्षा होगी' इस अभिलाषा से अपने पुत्र की रक्षा की।

वनमनुपमसत्त्वा बोधिसत्त्वास्तु सर्वे विषयसुखरसज्ञा जग्मुरुत्पन्नपुत्राः।
अत उपचितकर्मा रूढमूलेऽपि हेतौ स रतिमुपसिषेवे बोधिमापन्न यावत्॥

इति श्रीअश्वघोषकृते पूर्वबुद्धचरितमहाकाव्ये
अन्तःपुरविहारो नाम द्वितीयः सर्गः।

अनुपम स्वभाव वाले बोधिसत्त्व, समस्त विषय-सुखों का रसास्वादन कर, पुत्र होने पर वन को गये। किन्तु कर्म शेष रह जाने के कारण (वन जाने का हेतु) रूढ मूल (दृढ कारण) पुत्र का पुत्र (पौत्र) उत्पन्न होने पर भी बुद्धत्व प्राप्ति तक वह राजा पुत्र में प्रेम करते रहे ॥ ५६ ॥

यह पूर्वबुद्धचरितमहाकाव्य में अन्तःपुरविहार नामक
द्वितीय सर्ग समाप्त हुआ।

अथ तृतीयः सर्गः

संवेगोत्पत्तिः

संवेग-उत्पत्ति

ततः कदाचिन्मृदुशाद्वलानि पुंस्कोकिलोन्नादितपादपानि ।
शुश्राव पद्माकरमण्डितानि गीतैर्निबद्धानि स काननानि ॥ १ ॥

तब किसी समय उस सिद्धार्थ ने वन के सम्बन्ध में सुना कि कोमल तृणों से सम्पन्न है और वहां के वृक्ष कोयलों की ध्वनि से निनादित (गुंजायमान) हैं तथा कमलों के तालाबों से सुशोभित गीत से निबद्ध हैं ॥ १ ॥

श्रुत्वा ततः स्त्रीजनवल्लभानां मनोज्ञभावं पुरकाननानाम् ।
बहिःप्रयाणाय चकार बुद्धिमन्तर्गृहे नाग इवावरुद्धः ॥ २ ॥

तब स्त्रियों के प्रिय नगर के उद्यानों की सुन्दरता सुनकर घर के अन्दर बँधे हुए हाथी के समान राजकुमार ने बाहर जाने की इच्छा की ॥ २ ॥

ततो नृपस्तस्य निशम्य भावं पुत्राभिधानस्य मनोरथस्य ।
स्नेहस्य लक्ष्म्या वयसश्च योग्यामाज्ञापयामास विहारयात्राम् ॥ ३ ॥

तब पुत्र नामक उस राजकुमार के मनोगत भाव जानकर प्रेम, लक्ष्मी एवं अवस्था के योग्य वन-विहार यात्रा की आज्ञा दे दी ॥ ३ ॥

निवर्तयामास च राजमार्गे संपातमार्तस्य पृथग्जनस्य ।
मा भूत्कुमारः सुकुमारचित्तः संविग्नचेता इति मन्यमानः ॥ ४ ॥

कोमल चित्तवाले राजकुमार के मन में संवेग (वैराग्य) न हो जावे, इस विचार से राजमार्ग में रोगादि से पीड़ित अन्य लोगों का आवागमन रोक दिया ॥ ४ ॥

प्रत्यङ्गहीनान्विकलेन्द्रियांश्च जीर्णातुरादीन् कृपणांश्च दिक्षु ।
ततः समुत्सार्य परेण साम्ना शोभां परां राजपथस्य चक्रुः ॥ ५ ॥

तब राज-कर्मचारियों ने राजपथ से अङ्गहीनों, इन्द्रियहीनों, वृद्धों, रोगियों एवं गरीबजनों को परम शान्ति से हटाकर मार्ग को बहुत सजाया ॥ ५ ॥

ततः कृते श्रीमति राजमार्गे श्रीमान्विनीतानुचरः कुमारः ।
प्रासादपृष्ठादवतीर्य काले कृताभ्यनुज्ञो नृपमभ्यगच्छत् ॥ ६ ॥

तब राज-पथ सुशोभित हो जाने पर राजकुमार राजा की आज्ञा पाकर सुन्दर एवं नम्र सेवकों के साथ राजमहल से उतरकर समय पर राजा के निकट गया । ६ ॥

अथो नरेन्द्रः सुतमागताश्रुः शिरस्युपाघ्राय चिरं निरीक्ष्य ।
गच्छेति चाज्ञापयति स्म वाचा स्नेहान्न चैनं मनसा मुमोच ॥ ७ ॥

अनन्तर, प्रेमाश्रु बहाते हुए, राजा ने कुमार के सिर को चूमकर चिर-काल तक देखकर 'जाओ' ऐसे वचन से आज्ञा दे दी किन्तु प्रेमवश उसको मन से नहीं छोड़ा ॥ ७ ॥

ततः स जाम्बूनदभाण्डभृद्भिर्युक्तं चतुर्भिर्निभृतैस्तुरङ्गैः ।
अक्लीबविद्वच्छुचिरश्मिधारं हिरण्मयं स्यन्दनमारुरोह ॥ ८ ॥

तब वह कुमार स्वर्ण के आभूषणों से अलंकृत, सुशिक्षित चार अश्वों से संयुक्त सुवर्णमय रथ पर सवार हुआ जिसका सारथि वीर, कुशल, अनुरक्त था ॥ ८ ॥

ततः प्रकीर्णोज्ज्वलपुष्पजालं विषक्तमाल्यं प्रचलत्पताकम् ।
मार्गं प्रपेदे सदृशानुयात्रश्चन्द्रः सनक्षत्र इवान्तरिक्षम् ॥ ९ ॥

तब आकाश में नक्षत्रों सहित चन्द्रमा के समान वह राजकुमार योग्य सहचरों के साथ उस मार्ग में आया जहाँ शुक्ल पुष्पों का जाल सा बिछा हुआ था, मालाएँ लटक रही थीं एवं पताकाएँ फहरा रही थीं ॥ ९ ॥

कौतूहलात्स्फीततरैश्च नेत्रैर्नीलोत्पलार्धैरिव कीर्यमाणम् ।
शनैः शनैः राजपथं जगाहे पौरैः समन्तादभिवीक्ष्यमाणः ॥ १० ॥

उत्कण्ठावश अत्यन्त विकसित अर्धनील कमल के समान पुरवासियों के नेत्र मानो बिछे हुए हों ऐसे राजपथ पर, नगरवासियों के द्वारा चारों ओर से देखे गये कुमार ने शनैः शनैः प्रवेश किया ॥ १० ॥

तं तुष्टुवुः सौम्यगुणेन केचिद्ववन्दिरे दीप्ततया तथान्ये ।
सौमुख्यतस्तु श्रियमस्य केचिद्वैपुल्यमाशंसिषुरायुषश्च ॥ ११ ॥

कुछ लोगों ने उसके शान्ति गुण के कारण उसकी प्रार्थना की, कुछ तेजस्वी के कारण वन्दना की, तथा कुछ ने सौन्दर्य गुण के कारण विपुल सम्प एवं दीर्घायु की अभिलाषा की ॥ ११ ॥

निःसृत्य कुब्जाश्च महाकुलेभ्यो व्यूहाश्च कैरातकवामनानाम् ।
नार्यः कृशेभ्यश्च निवेशनेभ्यो देवानुयानध्वजवत्प्रणेमुः ॥१२

श्रेष्ठ कुलों से कूबड़े और गरीब घरों से किरात वामनो के समूह तथा स्त्रियों ने निकलकर, इन्द्र की यात्रा के ध्वज की तरह उनको प्रण किया ॥ १२ ॥

ततः कुमारः खलु गच्छतीति श्रुत्वा स्त्रियः प्रेष्यजनात्प्रवृत्तिम् ।
दिदृक्षया हर्म्यतलानि जग्मुर्जनेन मान्येन कृताभ्यनुज्ञाः ॥१३॥

तब, 'कुमार जाते हैं' ऐसा यथार्थ वृत्तान्त सेवकों से सुनकर, स्त्रियाँ मान जनों से आज्ञा पाकर, देखने की इच्छा से अटारियों पर चढ़ गईं ॥ १३ ॥

ताः स्रस्तकाञ्चीगुणविघ्निताश्च सुप्तप्रबुद्धाकुललोचनाश्च ।
वृत्तान्तविन्यस्तविभूषणाश्च कौतूहलेनानिभृताः परीयुः ॥ १४ ॥

कुछ को शीघ्रता के कारण करधनी सरकने से विघ्न हो रहा था, कुछ नेत्र तत्काल सोकर जगने से व्याकुल थे, कुछ ने वृत्तान्त सुनकर शीघ्र भूष धारण किये और कौतूहल वश वे सब परदारहित एकत्र हो गईं ॥ १४ ॥

प्रासादसोपानतलप्रणादैः काञ्चीरवैर्नूपुरनिस्वनैश्च ।
X वित्रासयन्त्यो गृहपक्षिसंघानन्योन्यवेगांश्च समाक्षिपन्त्यः ॥ १५ ॥

छत और सीढ़ियों पर पद-तल की ध्वनि से करधनियों के स्वर एवं नूपुरों की झङ्कार से घर के पालतू पक्षि-समूह को भयभीत करती हुई एवं एक दूसरे के वेग को तिरस्कृत करती हुई वहाँ गईं ॥ १५ ॥

कासाञ्चिदासां तु वराङ्गनानां जातत्वराणामपि सोत्सुकानाम् ।
गतिं गुरुत्वाज्जगृहुर्विशालाः श्रोणीरथाः पीनपयोधराश्च ॥ १६ ॥

उत्कण्ठित तथा शीघ्रता करने वाली कुलश्रेष्ठ स्त्रियों के अपने ही विशाल नितम्ब तथा पृथु स्तनों ने गुरुता के कारण उनकी गति का अवरोध किया॥१६॥

शीघ्रं समर्थापि तु गन्तुमन्या गतिं निजग्राह ययौ न तूर्णम्।
ह्रिया प्रगल्भा विनिगूहमाना रहःप्रयुक्तानि विभूषणानि ॥ १७ ॥

एक अन्य स्त्री ने, जो कि शीघ्र चलने में समर्थ थी, फिर भी अपनी गति रोक ली, शीघ्र नहीं गई। अधिक लज्जावती वह, एकांत में पहिने हुए भूषणों को छिपाती हुई, रुकी ॥ १७ ॥

परस्परोत्पीडनपिण्डितानां संमर्दसंक्षोभितकुण्डलानाम्।
तासां तदा सस्वनभूषणानां वातायनेष्वप्रशमो बभूव ॥ १८ ॥

परस्पर संघर्ष करती हुई पिण्डीभूत परस्पर संघट्ट से कुण्डल हिल रहे थे। जिनके भूषणों की ध्वनि गूँज रही थी उन स्त्रियों से उस समय वातायनों में अशान्ति फैल गई ॥ १८ ॥

वातायनेभ्यस्तु विनिःसृतानि परस्परायासितकुण्डलानि।
स्त्रीणां विरेजुर्मुखपङ्कजानि सक्तानि हर्म्येष्विव पङ्कजानि ॥ १९ ॥

परस्पर संघर्ष के कारण जिनके कुण्डल हिल रहे थे ऐसी स्त्रियों के मुख-कमल वातायनों से बाहर निकल रहे थे। वे ऐसे शोभित हुए मानों प्रासादों में कमल खिले हों ॥ १९ ॥

ततो विमानैर्युवतीकरालैः कौतूहलोद्घाटितवातयानैः।
श्रीमत्समन्तान्नगरं बभासे वियद्विमानैरिव साप्सरोभिः ॥ २० ॥

उस समय कौतूहल से जिनकी खिड़कियाँ खोल दी गई थीं और जिनसे स्त्रियाँ झाँक रही थीं उन महलों से शोभायुक्त नगर चारों ओर से ऐसा प्रतीत हुआ मानो अप्सराओं के विमानों से युक्त स्वर्ग हो ॥ २० ॥

वातायनानामविशालभावादन्योन्यगण्डार्पितकुण्डलानाम्।
मुखानि रेजुः प्रमदोत्तमानां बद्धाः कलापा इव पङ्कजानाम् ॥ २१ ।

वातायनों के विशाल न होने के कारण उत्तम स्त्रियाँ एक दूसरे के गण्डस्थल पर अपने कुण्डल रखे हुए थीं। उनके मुख ऐसे शोभित हो रहे थे मानों कमल के बँधे हुए गुच्छे हों ॥ २१ ॥

तं ताः कुमारं पथि वीक्षमाणाः स्त्रियो बभुर्गामिव गन्तुकामाः।
ऊर्ध्वोन्मुखाश्चैनमुदीक्षमाणा नरा बभुर्द्यामिव गन्तुकामाः ॥ २२॥

मार्ग में उस कुमार को देखती हुई वे स्त्रियाँ ऐसी प्रतीत हुईं मानो पृथ्वी पर आने की इच्छा कर रही हों और उन्हें देखते हुए ऊर्ध्व-मुख पुरुष ऐसे प्रतीत हुए मानों आकाश में जाने की इच्छा कर रहे हों ॥ २२ ॥

दृष्ट्वा च तं राजसुतं स्त्रियस्ता जाज्वल्यमानं वपुषा श्रिया च।
धन्यास्यभार्येति शनैरवोचञ्शुद्धैर्मनोभिः खलु नान्यभावात् ॥ २३॥

सुन्दर शरीर और लक्ष्मी से विभूषित उस राजकुमार को देखकर उन स्त्रियों ने अन्य भाव रहित, शुद्ध भाव से, 'इसकी भार्या धन्य है'—ऐसा धीरे से कहा ॥ २३ ॥

अयं किल व्यायतपीनबाहू रूपेण साक्षादिव पुष्पकेतुः।
त्यक्त्वा श्रियं धर्ममुपैष्यतीति तस्मिन् हि ता गौरवमेव चक्रुः ॥२४॥

सौन्दर्य से साक्षात् कामदेव के समान विशाल एवं स्थूल भुजावाला यह कुमार लक्ष्मी को छोड़कर धर्म को प्राप्त होगा, इस तरह उन्होंने उसमें गौरव ही बढ़ाया ॥ २४ ॥

कीर्णं तथा राजपथं कुमारः पौरैर्विनीतैः शुचिधीरवेषैः।
तत्पूर्वमालोक्य जहर्ष किञ्चिन्मेने पुनर्भावमिवात्मनश्च ॥ २५ ॥

पवित्र एवं धीर वेषवाले नम्र नगरवासियों से व्याप्त राजमार्ग को सर्वप्रथम देखकर, वह कुछ प्रसन्न हुआ और उसने अपना पुनर्जन्म सा माना ॥ २५ ॥

पुरं तु तत्स्वर्गमिव प्रहृष्टं शुद्धाधिवासाः समवेक्ष्य देवाः।
जीर्णं नरं निर्ममिरे प्रयातुं संचोदनार्थं क्षितिपात्मजस्य ॥ २६॥

शुद्धाधिवास (देवयोनि विशेष) देवों ने उस नगर को स्वर्गतुल्य प्रसन्न देखकर, उस राजकुमार को वन में जाने को प्रेरित करने के लिए एक वृद्ध पुरुष का निर्माण किया ॥ २६ ॥

ततः कुमारो जरयाभिभूतं दृष्ट्वा नरेभ्यः पृथगाकृतिं तम्।
उवाच सङ्ग्राहकमागतास्थस्तत्रैव निष्कम्पनिविष्टदृष्टिः ॥ २७॥

तब उस राजकुमार ने अन्य लोगों से विलक्षण आकृतिवाला, वृद्धावस्था से जर्जर उसको, ध्यानस्थ निश्चल दृष्टि से देखकर उसी में स्तब्ध होते हुए, सारथि से कहा ॥ २७ ॥

क एष भोः सूत नरोऽभ्युपेतः केशैः सितैर्यष्टिविषक्तहस्तः ।
भ्रूसंवृताक्षः शिथिलानताङ्गः किं विक्रियैषा प्रकृतिर्यदृच्छा ॥ २८ ॥

हे सूत ! यह कौन मनुष्य आया है ? सफेद केशों से युक्त, हाथों में लाठी पकड़े हुए, भौंहों से आँखे ढँकी हैं, शिथिलता के कारण शरीर झुका है । क्या यह विकार है अथवा स्वभाव या अनायास ऐसा हो गया है ॥ २८ ॥

इत्येवमुक्तः स रथप्रणेता निवेदयामास नृपात्मजाय ।
संरक्ष्यमप्यर्थमदोषदर्शी तैरेव देवैः कृतबुद्धिमोहः ॥ २९ ॥

ऐसा पूछे जाने पर उस रथवाहक ने राजकुमार के लिये गुप्त बात भी बता दी । उन्हीं देवों ने उसकी बुद्धि में भी मोह कर दिया था अतः इसमें दोष नहीं देखा ॥ २९ ॥

रूपस्य हन्त्री व्यसनं बलस्य शोकस्य योनिर्निधनं रतीनाम् ।
नाशः स्मृतीनां रिपुरिन्द्रियाणामेषा जरा नाम ययैष भग्नः ॥ ३० ॥

रूप को नष्ट करनेवाली, बल के लिए विपत्ति स्वरूप, शोक की जननी, आनन्द का काल, स्मृति का नाश एवं इन्द्रियों का शत्रु, यह जरा अवस्था है, जिसने इसे तोड़ डाला है ॥ ३० ॥

पीतं ह्यनेनापि पयः शिशुत्वे कालेन भूयः परिसृप्तमुर्व्याम् ।
क्रमेण भूत्वा च युवा वपुष्मान् क्रमेण तेनैव जरामुपेतः ॥ ३१ ॥

इसने भी बाल्यावस्था में दूध पिया, फिर समय पाकर पृथ्वी पर सरककर गमन किया । क्रमशः सुन्दर युवा होकर, उसी क्रम से वृद्धत्व को प्राप्त हुआ है ॥ ३१ ॥

इत्येवमुक्ते चलितः स किञ्चिद्राजात्मजः सूतमिदं बभाषे ।
किमेष दोषो भविता ममापीत्यस्मै ततः सारथिरभ्युवाच ॥ ३२ ॥

ऐसा कहे जाने पर उस राजकुमार ने कुछ चकित होकर सारथि से पूछा कि क्या यह दोष मुझे भी होगा ? तब सारथि ने उससे कहा ॥ ३२ ॥

आयुष्मतोऽप्येष वयःप्रकर्षो निःसंशयं कालवशेन भावी ।
एवं जरां रूपविनाशयित्रीं जानाति चैवेच्छति चैव लोकः ॥ ३३ ॥

यह वृद्धावस्था कालवशात् निश्चित रूप से आयुष्मान आप को भी अवश्यम्भावी है । इस रूपविनाशिनी अवस्था को लोग जानते भी हैं और चाहते भी हैं ॥ ३३ ॥

ततः स पूर्वाशयशुद्धबुद्धिर्विस्तीर्णकल्पाचितपुण्यकर्मा ।
श्रुत्वा जरां संविविजे महात्मा महाशनेर्घोषमिवान्तिके गौः ॥ ३४ ॥

तब पूर्ण की वासना से शुद्ध बुद्धिवाला अनेक कल्पों से, जिसका पुण्य कर्म संचित हुआ है—ऐसा वह महात्मा, जरा को सुनकर वैसे ही उद्विग्न हुआ जैसे समीप में महावज्र का शब्द सुनकर गाय व्याकुल होती है ॥ ३४ ॥

निःश्वस्य दीर्घं स्वशिरः प्रकम्प्य तस्मिंश्च जीर्णे विनिवेश्य चक्षुः ।
तां चैव दृष्ट्वा जनतां सहर्षां वाक्यं स संविग्न इदं जगाद ॥ ३५ ॥

दीर्घ श्वास लेकर, अपना शिर कँपाकर उसी वृद्ध में दृष्टि लगाकर उस जनता को प्रसन्न ही देखकर उद्विग्न होते हुए, उसने इस प्रकार कहा ॥३५॥

एवं जरा हन्ति च निर्विशेषं स्मृतिं च रूपं च पराक्रमं च ।
न चैव संवेगमुपैति लोकः प्रत्यक्षतोऽपीदृशमीक्षमाणः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार स्मृति, रूप एवं पराक्रम को निःशेष रूप से (यह) वृद्धावस्था नष्ट करती है तथा प्रत्यक्ष ऐसा देखते हुए भी लोग संवेग को प्राप्त नहीं होते ॥

एवं गते सूत निवर्तयाश्वान् शीघ्रं गृहाण्येव भवान्प्रयातु ।
उद्यानभूमौ हि कुतो रतिर्मे जराभये चेतसि वर्तमाने ॥ ३७ ॥

जब कि ऐसा होता है, तो हे सूत ! अश्वों को लौटाओ ? आप शीघ्र घर को ही चलें । जरा का भय चित्त में रहते हुए मुझे उद्यान-भूमि में सुख कहाँ से मिलेगा ॥ ३७ ॥

अथाज्ञया भर्तृसुतस्य तस्य निवर्तयामास रथं नियन्ता ।
ततः कुमारो भवनं तदेव चिन्तावशः शून्यमिव प्रपेदे ॥ ३८ ॥

तब सारथि ने उस राजपुत्र की आज्ञा से रथ को लौटाया। तब कुमार चिन्तावश शून्य की तरह उसी भवन में पहुँचा ॥ ३८ ॥

यदा तु तत्रैव न शर्म लेभे जरा-जरेति प्रपरीक्षमाणः ।
ततो नरेन्द्रानुमतः स भूयः क्रमेण तेनैव बहिर्जगाम ॥ ३९ ॥

जब 'जरा-जरा' ऐसे परीक्षण का चिन्तन करते हुए उसने शान्ति नहीं पाई तब राजा की आज्ञा से पुनः उसी क्रम से बाहर गया ॥ ३९ ॥

अथापरं व्याधिपरीतदेहं त एव देवाः ससृजुर्मनुष्यम् ।
दृष्ट्वा च तं सारथिमाबभाषे शौद्धोदनिस्तद्गतदृष्टिरेव ॥ ४० ॥

अनन्तर व्याधिग्रस्त शरीर वाले दूसरे मनुष्य को उन्हीं देवों ने बनाया। उसे देखकर शुद्धोदन-पुत्र उसी में दृष्टि लगाए हुए सारथि से बोला ॥ ४० ॥

स्थूलोदरः श्वासचलच्छरीरः स्रस्तांसबाहुः कृशपाण्डुगात्रः ।
अम्बेति वाचं करुणं ब्रुवाणः परं समाश्रित्य नरः क एषः ॥ ४१ ॥

जिसका उदर बढ़ा हुआ है, श्वास से शरीर में कम्प हो रहा है, स्कन्ध और भुजाएँ ढीली पड़ी हैं, देह दुर्बल एवं पीला पड़ गया है, दूसरे का आश्रय लेकर दुःखित स्वर में "माँ ! माँ !!" चिल्ला रहा है—यह कौन है ॥ ४१ ॥

ततोऽब्रवीत्सारथिरस्य सौम्य धातुप्रकोपप्रभवः प्रवृद्धः ।
रोगाभिधानः सुमहाननर्थः शक्तोऽपि येनैष कृतोऽस्वतन्त्रः ॥ ४२ ॥

"हे सौम्य ! रसादि धातु के प्रकोप से बढ़ा हुआ यह रोग नामक महान् अनर्थ है, जिसने इस समर्थ को भी पराधीन कर दिया है"—इस प्रकार तब उस सारथि ने कुमार से कहा ॥ ४२ ॥

इत्यूचिवान् राजसुतः स भूयस्तं सानुकम्पो नरमीक्षमाणः ।
अस्यैव जातः पृथगेष दोषः सामान्यतो रोगभयं प्रजानाम् ॥४३॥

उस मनुष्य को अनुकम्पा के साथ देखते हुए उस राजपुत्र ने पुनः सारथि से पूछा—"यह दोष केवल इसी को हुआ है अथवा सभी प्रजाओं को सामान्य रूप से यह रोग-भय रहता है" ॥ ४३ ॥

ततो बभाषे स रथप्रणेता कुमार साधारण एष दोषः ।
एवं हि रोगैः परिपीड्यमानो रुजातुरो हर्षमुपैति लोकः ॥ ४४ ॥

तब 'हे कुमार ! यह दोष साधारण (सबको होनेवाला) है । इसी तरह रोगों से पीड़ित होते हुए, कष्ट से व्याकुल लोग हर्ष को प्राप्त होते हैं"—इस प्रकार उस रथवाहक ने कहा ॥ ४४ ॥

इति श्रुतार्थः स विषण्णचेताः प्रावेपताम्बूर्मिगतः शशीव ।
इदं च वाक्यं करुणायमानः प्रोवाच किञ्चिन्मृदुना स्वरेण ॥ ४५ ॥

इस प्रकार रोग का अर्थ सुनकर विह्वल चित्त होते हुए, चञ्चल जलतरंग में चन्द्रबिम्ब की भाँति काँपने लगा एवं करुणा से आर्द्र होकर कुछ कोमल स्वर में उसने यह वचन कहा ॥ ४५ ॥

इदं च रोगव्यसनं प्रजानां पश्यंश्च विस्रम्भमुपैति लोकः ।
विस्तीर्णमज्ञानमहो नराणां हसन्ति ये रोगभयैरमुक्ताः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार प्रजाओं का रोग दुःख देखता हुआ भी संसार निर्द्वन्द्व रहता है । अहो ! मनुष्यों का (यह) कितना बड़ा अज्ञान है जो रोग-भय से अमुक्त होने पर भी हँसते हैं ॥ ४६ ॥

निवर्त्यतां सूत बहिःप्रयाणान्नरेन्द्रसद्मैव रथः प्रयातु ।
श्रुत्वा च मे रोगभयं रतिभ्यः प्रत्याहतं संकुचतीव चेतः ॥ ४७ ॥

हे सूत ! बाहर जाने से लौटाओ । रथ नरेन्द्र-भवन को ही जाय । रोग-भय सुनकर सुख से निवृत्त मेरा चित्त संकुचित सा हो रहा है ॥ ४७ ॥

ततो निवृत्तः स निवृत्तहर्षः प्रध्यानयुक्तः प्रविवेश वेश्म ।
तं द्विस्तथा प्रेक्ष्य च संनिवृत्तं पर्येषणं भूमिपतिश्चकार ॥ ४८ ॥

वहाँ से प्रसन्नता-रहित वह लौटा एवं चिन्ता-मग्न होकर भवन में प्रविष्ट हुआ । उसको दो बार उस प्रकार लौटा देख, भूमि-पति ने कारण जानना चाहा ॥ ४८ ॥

श्रुत्वा निमित्तं तु निवर्तनस्य संत्यक्तमात्मानमनेन मेने ।
मार्गस्य शौचाधिकृताय चैव चुक्रोश रुष्टोऽपि च नोग्रदण्डः ॥ ४९ ॥

राजा ने लौटने का निमित्त सुनकर उसके द्वारा अपने को त्यागा समझा

और मार्गशोधन में नियुक्त अधिकारी पर केवल क्रोध किया तथा कुपित होने पर भी उसको कठिन दण्ड नहीं दिया ॥ ४९ ॥

भूयश्च तस्मै विदधे सुताय विशेषयुक्तं विषयप्रचारम् ।
चलेन्द्रियत्वादपि नाम सक्तो नास्मान्विजह्यादिति नाथमानः ॥५०॥

पुनः उस पुत्र के लिये विशेष लगन से विषय का प्रचार (प्रदर्शन) किया; इस विचार से कि इन्द्रियाँ स्वभावतः चञ्चल होती हैं, सम्भव है विषयासक्त होकर मुझे न छोड़े ऐसी कामना करता रहा ॥ ५० ॥

यदा च शब्दादिभिरिन्द्रियार्थैरन्तःपुरे नैव सुतोऽस्य रेमे ।
ततो बहिर्व्यादिशति स्म यात्रां रसान्तरं स्यादिति मन्यमानः ॥५१॥

जब अन्तःपुर (रनिवास) में उसका पुत्र इन्द्रियों के विषय शब्दादि से नहीं रमा तब बाहर यात्रा करने का आदेश, यह विचार कर, दिया कि रसास्वाद से सम्भवतः इसका मन बदल जाय ॥ ५१ ॥

स्नेहाच्च भावं तनयस्य बुद्ध्वा स रागदोषानविचिन्त्य कांश्चित् ।
योग्याः समाज्ञापयति स्म तत्र कलास्वभिज्ञा इति वारमुख्याः ॥ ५२ ॥

तथा स्नेह के कारण किन्हीं भी राग के दोषों का विचार न करते हुए पुत्र का भाव देखकर उसने कला-कुशल योग्य प्रमुख वेश्याओं को वहाँ रहने की आज्ञा दी ॥ ५२ ॥

ततो विशेषेण नरेन्द्रमार्गे स्वलंकृते चैव परीक्षिते च ।
व्यत्यस्य सूतं च रथं च राजा प्रस्थापयामास बहिः कुमारम् ॥५३॥

तब विशेष प्रकार से नरेन्द्र-मार्ग (राजपथ) को खूब सज जाने एवं जाँच कर लेने पर, सारथि एवं रथ को बदलकर, राजा ने कुमार को बाहर भेजा ॥ ५३ ॥

ततस्तथा गच्छति राजपुत्रे तैरेव देवैर्विहितो गतासु ।
तं चैव मार्गे मृतमुह्यमानं सूतः कुमारश्च ददर्श नान्यः ॥ ५४ ॥

पुनः उस प्रकार राजपुत्र के (मार्ग में) चलने पर उन्हीं देवों ने एक मृतक बनाया उस मृतक को मार्ग में ले जाते हुए कुमार और सारथि ने देखा (किन्तु) दूसरों ने नहीं ॥ ५५ ॥

अथाब्रवीद्राजसुतः स सूतं नरैश्चतुर्भिर्ह्रियते क एषः ।
दीनैर्मनुष्यैरनुगम्यमानो विभूषितश्चाप्यवरुद्यते च ॥ ५५ ॥

तब उस राजकुमार ने सारथि से पूछा कि चार पुरुषों से ढोया जा रहा यह कौन है ? दुःखी लोग इसका अनुगमन कर रहे हैं तथा विशेष प्रकार से सजाये हुए हैं, फिर भी इसके लिये रो रहे हैं ॥ ५५ ॥

ततः स शुद्धात्मभिरेव देवैः शुद्धाधिवासैरभिभूतचेताः ।
अवाच्यमप्यर्थमिमं नियन्ता प्रव्याजहारार्थवदीश्वराय ॥ ५६ ॥

तब शुद्ध अन्तःकरण वाले शुद्धाधिवास देवों से जिसका चित्त अभिभूत (बदल दिया गया) है ऐसे उस सारथि ने न कहने योग्य यह बात भी राजकुमार से कह दी ॥ ५६ ॥

बुद्धीन्द्रियप्राणगुणैर्वियुक्तः सुप्तो विसंज्ञस्तृणकाष्ठभूतः ।
संवर्ध्य संरक्ष्य च यत्नवद्भिः प्रियप्रियैस्त्यज्यत एष कोऽपि ॥ ५७ ॥

बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण और गुणों से वियुक्त चेतना-रहित तृण तथा लकड़ी के समान होकर यह कोई सदैव के लिए सो (मर) गया है। अभी तक प्रेमी स्वजनों ने इसे प्रयत्नपूर्वक पाला पोसा (और) अब छोड़ रहे हैं ॥५७॥

इति प्रणेतुः स निशम्य वाक्यं संचुक्षुभे किञ्चिदुवाच चैनम् ।
किं केवलोऽस्यैव जनस्य धर्मः सर्वप्रजानामयमीदृशोऽन्तः ॥५८॥

वह राजकुमार रथवाहक का यह वचन सुनकर कुछ व्यग्र हुआ और उससे बोला—क्या यह केवल इसी का धर्म है या सभी प्राणियों का इसी प्रकार अन्त होता है ॥ ५८ ॥

ततः प्रणेता वदति स्म तस्मै सर्वप्रजानामिदमन्तकर्म ।
हीनस्य मध्यस्य महात्मनो वा सर्वस्य लोके नियतो विनाशः ॥५९॥

तब रथवाहक ने उसे बताया कि सब प्राणियों का यही अन्तिम कर्म है। उत्तम, मध्यम, नीच; कोई भी हो, सबका विनाश निश्चित है ॥ ५९ ॥

ततः स धीरोऽपि नरेन्द्रसूनुः श्रुत्वैव मृत्युं विषसाद सद्यः ।
अंसेन संश्लिष्य च कूबराग्रं प्रोवाच निर्ह्रादवता स्वरेण ॥ ६० ॥

अनन्तर धीर होने पर भी वह नरेन्द्र-सूनु (कुमार) मृत्यु (का विषय) सुनकर तत्काल दुःखी हुआ और कन्धे से कूबर के अग्र भाग (केहुनी) का सहारा लेकर (हाथ पर गाल रखकर) गम्भीर स्वर से बोला ॥ ६० ॥

इयं च निष्ठा नियता प्रजानां प्रमाद्यति त्यक्तभयश्च लोकः ।
मनांसि शङ्के कठिनानि नृणां स्वस्थास्तथा ह्यध्वनि वर्तमानः ॥६१॥

प्राणियों की यह निष्ठा (मृत्यु) निश्चित है किन्तु भय छोड़कर लोग भूलकर रहे हैं। मैं समझता हूँ कि मनुष्यों का मन, कठिन (दृढ़) है जो कि इस प्रकार मृत्यु-पथ पर चलते हुए भी स्वस्थ (सुखी) है ॥ ६१ ॥

तस्माद्रथः सूत निवर्त्यतां नो विहारभूमेर्न हि देशकालः ।
जानन्विनाशं कथमार्तिकाले सचेतनः स्यादिह हि प्रमत्तः ॥ ६२ ॥

अतः हे सूत! हमारे रथ को लौटाओ। विहार-भूमि (आनन्द से घूमने) का अवसर नहीं है। विनाश (मृत्यु) को जानता हुआ भी सचेतन (बुद्धिमान) विपत्तिकाल में विभोर कैसे रह सकता है ॥ ६२ ॥

इति ब्रुवाणेऽपि नराधिपात्मजे निवर्तयामास स नैव तं रथम् ।
विशेषयुक्तं तु नरेन्द्रशासनात्-स पद्मषण्डं वनमेव निर्ययौ ॥६३॥

इस प्रकार राजकुमार के कहते रहने पर भी उस सूत ने रथ नहीं लौटाया, अपितु राजा की आज्ञा से विशेष सुन्दरता से युक्त पद्मषण्ड नामक वन को ले गया ॥ ६३ ॥

ततः शिवं कुसुमितबालपादपं परिभ्रमत्प्रमुदितमत्तकोकिलम् ।
विमानवत्स कमलचारुदीर्घिकं ददर्श तद्वनमिव नन्दनं वनम् ॥६४॥

तब उसने फूलते हुए छोटे छोटे वृक्ष एवं घूमते हुए प्रसन्न मतवाले कोकिल तथा कमल से सुशोभित सुन्दर वापी वाला भव्य विमान के सदृश उस वन को देखा जो कि नन्दन वन के समान था ॥ ६४ ॥

वराङ्गनागणकलिलं नृपात्मजस्ततो बलाद्वनमतिनीयते स्म तत् ।
वराप्सरोवृतमलकाधिपालयं नवव्रतो मुनिरिव विघ्नकातरः ॥६५॥

इति श्री अश्वघोषकृते पूर्वबुद्धचरितमहाकाव्ये
संवेगोत्पत्तिर्नाम तृतीयः सर्गः ।

पुनः उत्तम स्त्रियों से परिपूर्ण उस बाग में राजकुमार हठात् दूर दूर ले जाया गया मानो श्रेष्ठ अप्सराओं से व्याप्त कुबेर-नगर की ओर विघ्न से डरने वाला कोई नवीन व्रती मुनि बलात् ले जाया जाता हो ॥ ६५ ॥

यह पूर्वबुद्धचरित महाकाव्य में 'संवेग-उत्पत्ति' नामक
तृतीय सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

अथ चतुर्थः सर्गः

स्त्रीविघातनः

स्त्री-निवारण

ततस्तमात्पुरोद्यानात्कौतूहलचलेक्षणाः ।
प्रत्युज्जग्मुर्नृपसुतं प्राप्तं वरमिव स्त्रियः ॥ १ ॥

तत्र उत्कण्ठा से चञ्चल-नेत्रवाली स्त्रियाँ नगर के उद्यान से निकलकर राजा के पुत्र के पास आईं मानो आये हुए वर का स्वागत करने आई हो ॥१॥

अभिगम्य च तास्तस्मै विस्मयोत्फुल्ललोचनाः ।
चक्रिरे समुदाचारं पद्मकोशनिभैः करैः ॥ २ ॥

प्रसन्नता से विकसित नेत्रवाली उन स्त्रियों ने निकट आकर कमल कोश सदृश करों से स्वागत सत्कार किया ॥ २ ॥

तस्थुश्च परिवार्यैनं मन्मथाक्षिप्तचेतसः ।
निश्चलैः प्रीतिविकचैः पिबन्त्य इव लोचनैः ॥ ३ ॥

तथा काम से विचलित चित्तवाली वे स्त्रियां अनुराग से विकसित एवं निश्चल नयनों से सौन्दर्यामृत का पान करती हुई की तरह उसको घेर कर बैठ गई ॥ ३ ॥

तं हि ता मेनिरे नार्यः कामो विग्रहवानिति ।
शोभितं लक्षणैर्दीप्तैः सहजैर्भूषणैरिव ॥ ४ ॥

उन स्त्रियों ने स्वाभाविक भूषणों के समान प्रकाशवान् लक्षणों से सुशोभित उस राजकुमार को मूर्तिमान काम समझा ॥ ४ ॥

सौम्यत्वाच्चैव धैर्याच्च काश्चिदेनं प्रजज्ञिरे ।
अवतीर्णो महीं साक्षाद् गूढांशुश्चन्द्रमा इति ॥ ५ ॥

कुछ स्त्रियों ने सौम्य एवं धैर्य गुणयुक्त होने के कारण उसको पृथ्वी पर ाया हुआ 'किरण रहित' साक्षात् चन्द्रमा समझा ॥ ५ ॥

तस्य ता वपुषाक्षिप्ता निगृहीतं जजृम्भिरे ।
अन्योन्यं दृष्टिभिर्हत्वा शनैश्च विनिशश्वसुः ॥ ६ ॥

उसके शरीर सौन्दर्य से मुग्ध होकर उन स्त्रियों ने रोककर (मुँह ढाँक र) जंभाई ली तथा परस्पर कटाक्ष मारती हुई मन्द-मन्द ऊर्ध्व श्वास लीं ॥६॥

एवं ता दृष्टिमात्रेण नार्यो ददृशुरेव तम् ।
न व्याजह्नुर्न जहसुः प्रभावेणास्य यंत्रिताः ॥ ७ ॥

इस तरह वे नारियाँ केवल दृष्टिमात्र से देखती ही रहीं । उसके प्रभाव े निरुद्ध होकर उससे न कुछ बोल सकीं और न हँसी ॥ ७ ॥

तास्तथा तु निरारम्भा दृष्ट्वा प्रणयविक्लवाः ।
पुरोहितसुतो धीमानुदायी वाक्यमब्रवीत् ॥ ८ ॥

वे स्त्रियां कुछ (बात) आरम्भ नहीं कर रही थीं किन्तु प्रेम से विह्वल थीं, ऐसा देखकर बुद्धिमान् पुरोहित-पुत्र उदायी ने यह वचन कहा ॥ ८ ॥

सर्वाः सर्वकलाज्ञाः स्थ भावग्रहणपण्डिताः ।
रूपचातुर्यसंपन्नाः स्वगुणैर्मुख्यतां गताः ॥ ९ ॥

आप लोग सब कला को जाननेवाली हो, भाव ग्रहण में पण्डिता हो, रूप एवं चातुर्य से सम्पन्न हो तथा अपने गुणों से प्रधानता को प्राप्त हुई हो ॥ ९ ॥

शोभयेत गुणैरेभिरपि तानुत्तरान् कुरून् ।
कुवेरस्यापि चाक्रीडं प्रागेव वसुधामिमाम् ॥ १० ॥

आप सब इन गुणों से उत्तर कुरुओं को भी सुशोभित कर सकती हैं तथा कुवेर के क्रीडास्थल को भी । इस पृथ्वी को तो पहले से ही शोभित कर चुकी हो ॥ १० ॥

शक्ताश्चालयितुं यूयं वीतरागानृषीनपि ।
अप्सरोभिश्च कलितान् ग्रहीतुं विबुधानपि ॥ ११ ॥

आपलोग वीतराग ऋषियों को भी विचलित कर सकती हो एवं अ
राओं से तृप्त देवों को भी वश में कर सकती हो ॥ ११ ॥

भावज्ञानेन हावेन रूपचातुर्यसम्पदा।
स्त्रीणामेव च शक्ताः स्थ संरागे किं पुनर्नृणाम् ॥ १२ ॥

और स्त्रियों के ही भाव (अभिप्राय) से हाव (अभिनय) से रूप
कला के वैभव से सारा विश्व राग में आसक्त है, मनुष्यों की तो
क्या है ॥ १२ ॥

तासामेवंविधानां वो वियुक्तानां स्वगोचरे।
इयमेवंविधा चेष्टा न तुष्टोऽस्म्यार्जवेन वः ॥ १३ ॥

आपलोग उपरोक्त गुणवाली हैं व अपने कार्य से उदासीन हैं। अ
लोगोंकी यह चेष्टा (व्यवहार) उचित नहीं। मैं आप लोगों के आर्जव (सरल
से सन्तुष्ट नही हूँ ॥ १३ ॥

इदं नववधूनां वो ह्रीनिकुञ्चितचक्षुषाम्।
सदृशं चेष्टितं हि स्यादपि वा गोपयोषिताम् ॥ १४ ॥

आपका यह 'व्यापार' लज्जा से ढकनेवाली नव-वधुओं के अथ
गोप-वधुओं के समान है (जो कि) उन्हीं को शोभा देता है ॥ १४ ॥

यदपि स्यादयं धीरः श्रीप्रभावान्महानिति।
स्त्रीणामपि महत्तेज इतः कार्योऽत्र निश्चयः ॥ १५ ॥

यद्यपि यह धीर एवं लक्ष्मी के प्रभाव से भी बड़ा हो तथापि स्त्रियों
तेज भी महान् है अतः इस विषय में यहाँ निश्चय करना चाहिये ॥ १५ ॥

पुरा हि काशिसुन्दर्या वेशवध्वा महानृषिः।
ताडितोऽभूत्पदा व्यासो दुर्धर्षो दैवतैरपि ॥ १६ ॥

प्राचीन काल में देवों के लिये भी दुर्लभ महान् ऋषि व्यास को काशी
सुन्दरी वेश्या-वधू ने चरण से प्रहार किया था ॥ १६ ॥

मन्थालगौतमो भिक्षुर्जङ्घया वारमुख्यया।
पिप्रीषुश्च तदर्थार्थं व्यसून्निरहरत्पुरा ॥ १७ ॥

पूर्व काल में मन्थाल गौतम (नामक) गौतम-गोत्रीय भिक्षु जङ्घा नामक वेश्या के प्रिय होने की इच्छा से तथा उसके लिए धन लाने की इच्छा से मुर्दा ढोया करता था (क्योंकि वह) उससे प्रेम करता था ॥ १७ ॥

गौतमं दीर्घतपसं महर्षिं दीर्घजोविनम् ।
योषित्सन्तोषयामास वर्णस्थानावरा सती ॥ १८ ॥

दीर्घजीवी महातपस्वी महर्षि गौतम को नीच वर्ण एवं स्थिति होने पर भी एक स्त्री ने सन्तुष्ट (मुग्ध) किया ॥ १८ ॥

ऋष्यश्रृङ्गं मुनिसुतं तथैव स्त्रीष्वपण्डितम् ।
उपायैर्विविधैः शान्ता जग्राह च जहार च ॥ १९ ॥

उसी प्रकार शान्ता ने स्त्रियों के सम्बन्ध में अनभिज्ञ ऋषिकुमार ऋष्यश्रृङ्ग का विविध उपायों से हरण किया एवं वर रूप में वरण किया ॥ १९ ॥

विश्वामित्रो महर्षिश्च विगाढोऽपि महत्तपः ।
दशवर्षाण्यहर्मेने घृताच्याप्सरसा हृतः ॥ २० ॥

महर्षि विश्वामित्र ने जो कि महान् तप में विलीन थे, घृताची अप्सरा से अपहृत होकर दश वर्ष को एक दिन समझा ॥ २० ॥

एवमादीनृषींस्तांस्ताननयन्विक्रियां स्त्रियः ।
ललितं पूर्ववयसं किं पुनर्नृपतेः सुतम् ॥ २१ ॥

इस प्रकार (जब) स्त्रियों ने उन उन ऋषियों को विकार प्राप्त करवाया, तो यह सुन्दर एवं युवा राज-पुत्र क्या चीज है ॥ २१ ॥

तदेवं सति विस्रब्धं प्रयतध्वं तथा यथा ।
इयं नृपस्य वंशश्रीरितो न स्यात्पराङ्मुखी ॥ २२ ॥

जब कि ऐसी बात है तो निश्चित रूप से ऐसा प्रयत्न करो जिससे यह राजा के वंश की शोभा यहाँ से विरक्त होकर न जावे ॥ २२ ॥

या हि काश्चिद्युवतयो हरन्ति सदृशं जनम् ।
निकृष्टोत्कृष्टयोर्भावं या गृह्णन्ति तु ताः स्त्रियः ॥ २३ ॥

अपने समान लोगों के मन तो जो कोई भी स्त्रियाँ हर सकती हैं किन्तु

निकृष्ट-उत्कृष्ट सभी प्रकार के लोगों के मन को हर सकें वे ही वि
(विशिष्ट) हैं ॥ २३ ॥

इत्युदायिवचः श्रुत्वा ता विद्धा इव योषितः ।
समारुरुहुरात्मानं कुमारग्रहणं प्रति ॥ २४ ॥

उदायी की ऐसी बात सुनकर वे स्त्रियाँ तो मानों बाणों से विद्ध हो गई।
कुमार को वश में करने के लिए स्वयं पर आरूढ़ (तैयार) हुई ॥ २४ ॥

ता भ्रूभिः प्रेक्षितैर्हावैर्हसितैर्लडितैर्गतैः ।
चक्रुराक्षेपिकाश्चेष्टा भीतभीता इवाङ्गनाः ॥ २५ ॥

कुछ डरती हुई सी उन स्त्रियों ने भौहों की तिरछी चितवन से अभि
विलास, हास्य एवं ललित गति से आकर्षण करने की चेष्टाएँ कीं ॥ २५ ॥

राज्ञस्तु विनियोगेन कुमारस्य च मार्दवात् ।
जहुः क्षिप्रमविस्रम्भं मदेन मदनेन च ॥ २६ ॥

उन्होंने राजा की आज्ञा से तथा कुमार के संकोची भाव के कारण,
और काम के अधीन होकर सहसा अपनी लज्जा छोड़ दी ॥ २६ ॥

अथ नारीजनवृतः कुमारो व्यचरद्वनम् ।
वासितायूथसहितः करीव हिमवद्वनम् ॥ २७ ॥

अनन्तर नारीजनों से घिरा हुआ वह कुमार उद्यान में विहार करने ल
जैसे हिमालय के बन में हथिनियों के झुण्ड के साथ हाथी ॥ २७ ॥

स तस्मिन् कानने रम्ये जज्वाल स्त्रीपुरःसरः ।
आक्रीड इव विभ्राजे विवस्वानप्सरोवृतः ॥ २८ ॥

उस मनोहर बाग में स्त्रियों के साथ चलते हुए वह कुमार ऐसा सुशोभि
हुआ, मानो विभ्राज (देवालय) के क्रीडास्थल में अप्सराओं के साथ विव
स्वान् (सूर्य) हो ॥ २८ ॥

मदेनावर्जिता नाम तं काश्चित्तत्र योषितः ।
कठिनैः पस्पृशुः पीनैः संहतैर्वल्गुभिः स्तनैः ॥ २९ ॥

वहाँ पर मद से मत्त कुछ स्त्रियों ने कठोर, स्थूल, सान्द्र उन्नत स्तनों से
उसका स्पर्श किया ॥ २९ ॥

स्रस्तांसकोमलालम्बमृदुबाहुलताबला ।
अनृतं स्खलितं काचित्कृत्वैनं सस्वजे बलात् ॥ ३० ॥

शिथिल कन्धे से कोमल लम्बायमान मृदुल भुज-लता वाली एक बाला मिथ्या पतन के बहाने उससे लिपट गई ॥ ३० ॥

काचित्ताम्राधरोष्ठेन मुखेनासवगन्धिना ।
विनिशश्वास कर्णेऽस्य रहस्यं श्रूयतामिति ॥ ३१ ॥

लाल, निचला ओष्ठ वाली किसी ने मदिरा की गंध से युक्त मुख से उसके कान के पास (गाल में) चुम्बन किया—'इस बहाने की एक बात गुप्त सुनिये' ॥ ३१ ॥

काचिदाज्ञापयन्तीव प्रोवाचार्द्रानुलेपना ।
इह भक्तिं कुरुष्वेति हस्तसंश्लेषलिप्सया ॥ ३२ ॥

उसके हाथ के स्पर्श की इच्छा से आर्द्र अनुलेप (गीला चन्दन) लिए किसी ने बहाना-पूर्वक आज्ञा देते हुए यह कहा—यहाँ भक्ति (सेवा) करो ॥३२॥

मुहुर्मुहुर्मदव्याजस्रस्तनीलांशुकापरा ।
आलक्ष्यरशना रेजे स्फुरद्विद्युदिव क्षपा ॥ ३३ ॥

एक दूसरी स्त्री, जो मद में अन्धी होने के बहाने अपनी साड़ी को बार बार गिरा देती है एवं जिसकी करधनी दिख जाती है, इस प्रकार सुशोभित हुई मानो रात्रि में बिजली चमकती हो ॥ ३३ ॥

काश्चित्कनककाञ्चीभिर्मुखराभिरितस्ततः ।
बभ्रमुर्दर्शयन्त्योऽस्य श्रोणीस्तन्वंशुकावृताः ॥ ३४ ॥

रुन झुन बजने वाली सोने की करधनियों से बँधे, झीनी साड़ी से ढके अपने नितम्बों को दर्शाती हुई कुछ यहाँ वहाँ घूमने लगीं ॥ ३४ ॥

चूतशाखां कुसुमितां प्रगृह्यान्या ललम्बिरे ।
सुवर्णकलशप्रख्यान्दर्शयन्त्यः पयोधरान् ॥ ३५ ॥

कुछ स्त्रियाँ, स्वर्ण घट सदृश बड़े स्तनों को दिखाती हुई, पुष्पित आम्र-शाखा को पकड़कर लटकने लगीं ॥ ३५ ॥

काचित्पद्मवनादेत्य सपद्मा पद्मलोचना।
पद्मवक्त्रस्य पार्श्वेऽस्य पद्मश्रीरिव तस्थुषी ॥ ३६ ॥

एक कोई कमललोचना, कमल के वन से कमल लेकर आई एवं क सदृश-मुख-राजकुमार के पास कमल शोभा की भांति खड़ी हो गई ॥ ३६ ॥

मधुरं गीतमन्वर्थं काचित्साभिनयं जगौ।
तं स्वस्थं चोदयन्तीव वञ्चितोऽसीत्यवेक्षितैः ॥ ३७ ॥

किसी ने अभिनय सहित सार्थक मधुर गीत गाया तथा उस 'शान्त' कटाक्षों से विचलित करती हुई ऐसा देखा मानो—"तुम वंचित हो रहे हो" ॥

शुभेन वदनेनान्या भ्रूकार्मुकविकर्षिणा।
प्रावृत्यानुचकारास्य चेष्टितं धीरलीलया ॥ ३८ ॥

किसी दूसरी ने, भृकुटी रूप धनुष पर, कटाक्ष रूप बाण को तानते हु गम्भीर लीला से लौट-लौट कर मनोहर मुख से इसकी चेष्टा का अनुक किया ॥ ३८ ॥

पीनवल्गुस्तनी काचिद्धासाघर्णितकुण्डला।
उच्चैरवजहासैनं समाप्नोतु भवानिति ॥ ३९ ॥

बड़े एवं सुन्दर स्तनवाली, हंसी से जिसके कुण्डल हिल रहे थे ऐसी को 'आप समाप्त करें' (रति करें)—ऐसा कह, उसको जोरों से हंसी ॥ ३९ ॥

अपयान्तं तथैवान्या बबन्धुर्माल्यदामभिः।
काश्चित्साक्षेपमधुरैर्जगृहुर्वचनाङ्कुशैः ॥ ४० ॥

उसी प्रकार दूसरी ने (छुड़ाकर) जाते हुए राजकुमार को माला की रस्सी बाँधा। अन्य किसी ने आक्षेप (व्यङ्ग्य) सहित वचन रूप अङ्कुशों से रोका।

प्रतियोगार्थिनी काचिद् गृहीत्वा चूतवल्लरीम्।
इदं पुष्पं तु कस्येति पप्रच्छ मदविक्लवा ॥ ४१ ॥

स्पर्धा करनेवाली ने आम की मंजरी लेकर पूछा कि यह फूल किसका है!

काचित्पुरुषवत्कृत्वा गतिं संस्थानमेव च।
उवाचैनं जितः स्त्रीभिर्जय भो पृथिवीमिमाम् ॥ ४२ ॥

कोई, मनुष्य के समान ही गति एवं स्थिति बनाकर उससे बोली—"अहो ! आप स्त्रियों से जीते गये, अब इस पृथ्वी को जीतो' ॥ ४२ ॥

अथ लोलेक्षणा काचिज्जिघ्रन्ती नीलमुत्पलम् ।
किञ्चिन्मदकलैर्वाक्यैर्नृपात्मजमभाषत ॥ ४३ ॥

इस प्रकार एक चपलनयना ने नील कमल को सूंघती हुई मद से मधुर वचन द्वारा राजकुमार से कुछ कहा ॥ ४३ ॥

पश्य भर्तश्चितं चूतं कुसुमैर्मधुगन्धिभिः ।
हेमपञ्जररुद्धो वा कोकिलो यत्र कूजति ॥ ४४ ॥

हे पतिदेव ! इस ओर गंधयुक्त पुष्पों से व्याप्त इस आम को देखो, जहाँ कोकिल इस प्रकार कूज रही है मानो सोने के पिंजड़े में बन्द हो ॥ ४४ ॥

अशोको दृश्यतामेष कामिशोकविवर्धनः ।
रुवन्ति भ्रमरा यत्र दह्यमाना इवाग्निना ॥ ४५ ॥

वियुक्त कामियों के शोक को बढ़ाने वाले इस अशोक को देखिये, जहाँ भँवरे ऐसे गूंज रहे हैं मानो अग्नि से जल रहे हों ॥ ४५ ॥

चूतयष्ट्या समाश्लिष्टो दृश्यतां तिलकद्रुमः ।
शुक्लवासा इव नरः स्त्रिया पीताङ्गरागया ॥ ४६ ॥

आम की शाखा से चिपके हुए तिलक वृक्ष को देखो । मानो शुक्ल वस्त्र धारण किये हुए पुरुष, पीले अंग राग वाली स्त्री से आलिङ्गन कर रहा हो ॥ ४६ ॥

फुल्लं कुरुबकं पश्य निर्मुक्तालक्तकप्रभम् ।
यो नखप्रभया स्त्रीणां निर्भर्त्सित इवानतः ॥ ४७ ॥

निचोये हुए अलक्तक (माहुर) की प्रभावाला कुरुबक को देखो जो कि स्त्रियों के नख की प्रभा से मानो तिरस्कृत होकर नम्र अथवा लज्जित हो गया है ॥ ४७ ॥

बालाशोकश्च निचितो दृश्यतामेष पल्लवैः ।
योऽस्माकं हस्तशोभाभिर्लज्जमान इव स्थितः ॥ ४८ ॥

(कोमल) पल्लवों से सघन इस नूतन अशोक को देखो जो हमारे हा
की (गदलियों की) शोभा से लज्जित सा होकर स्थित है ॥ ४८ ॥

दीर्घिकां प्रावृतां पश्य तीरजैः सिन्दुवारकैः ।
पाण्डुरांशुकसंवीतां शयानां प्रमदामिव ॥ ४९ ॥

तटवर्ती सिन्दुवारकों से ढकी हुई वापी को तो देखो जो कि श्वेत व
ओढ़कर सो रही प्रमदा की तरह दिखती है ॥ ४९ ॥

दृश्यतां स्त्रीषु माहात्म्यं चक्रवाको ह्यसौ जले ।
पृष्ठतः प्रेष्यवद्भार्यामनुवर्त्यनुगच्छति ॥ ५० ॥

स्त्रियों की महिमा देखो—वशवर्ती यह चक्रवाक जल में अपनी भा
के पीछे सेवक की भांति चल रहा है ॥ ५० ॥

मत्तस्य परपुष्टस्य रुवतः श्रूयतां ध्वनिः ।
अपरः कोकिलोऽन्वक्षं प्रतिश्रुत्येव कूजति ॥ ५१ ॥

मदमत्त कोकिल की कूजन-ध्वनि सुनें, दूसरा कोकिल अनुकरण क
की तरह निरन्तर कूज रहा है ॥ ५१ ॥

अपि नाम विहङ्गानां वसन्तेनाहृतो मदः ।
न तु चिन्तयतोऽचिन्त्यं जनस्य प्राज्ञमानिनः ॥ ५२ ॥

वसन्त (ऋतु) पक्षियों को, चाहे मदमत्त करे किन्तु अचिन्त्य (आत्म
चिन्तन करने वाले स्वाभिमानी मनुष्य को (मदमत्त) नहीं कर सक
है ॥ ५२ ॥

इत्येवं ता युवतयो मन्मथोद्दामचेतसः ।
कुमारं विविधैस्तैस्तैरुपचक्रमिरे नयैः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार काम से उद्दीप्त चित्त उन स्त्रियों ने तत्तत् विविध प्रकार
उपायों से कुमार को आकृष्ट करने का उपक्रम किया ॥ ५३ ॥

एवमाक्षिप्यमाणोऽपि स तु धैर्यावृतेन्द्रियः ।
मर्तव्यमिति सोद्वेगो न जहर्ष न विव्यथे ॥ ५४ ॥

इस प्रकार आकृष्ट किये जाने पर भी धैर्य से बँधी हैं इन्द्रियाँ जिस

ऐसा वह 'मरना होगा' यह सोचकर वैराग्य-सहित न तो प्रसन्न ही हुआ और न दुःखी ही ॥ ५४ ॥

तासां तत्त्वेऽनवस्थानं दृष्ट्वा स पुरुषोत्तमः ।
समं विग्नेन धीरेण चिन्तयामास चेतसा ॥ ५५ ॥

वह पुरुष श्रेष्ठ, तत्त्व (ज्ञान) में उनकी स्थिति न देख, एक ही साथ उद्विग्न एवं धीर चित्त से सोचने लगा ॥ ५५ ॥

किमेता नावगच्छन्ति चपलं यौवनं स्त्रियः ।
यतो रूपेण संमत्तं जरा यन्नाशयिष्यति ॥ ५६ ॥

क्या ये स्त्रियाँ यौवन को क्षणिक नहीं समझती हैं ? जो कि अपने रूप से उन्मत्त हैं, जिसको वृद्धावस्था नष्ट कर देगी ॥ ५६ ॥

नूनमेता न पश्यन्ति कस्यचिद्रोगसंप्लवम् ।
तथा हृष्टा भयं त्यक्त्वा जगति व्याधिधर्मिणि ॥ ५७ ॥

सच में ये किसी को रोग से व्याकुल नहीं देखतीं । अतएव व्याधिधर्मी जगत में भय त्याग कर प्रसन्न हैं ॥ ५७ ॥

अनभिज्ञाश्च सुव्यक्तं मृत्योः सर्वापहारिणः ।
ततः स्वस्था निरुद्विग्नाः क्रीडन्ति च हसन्ति च ॥ ५८ ॥

सब कुछ हर लेने वाली मृत्यु से ये स्पष्ट अनभिज्ञ हैं तभी तो स्वस्थ (सुखी) एवं उद्वेग-रहित होकर खेलती और हँसती हैं ॥ ५८ ॥

जरां व्याधिं च मृत्युं च को हि जानन्सचेतनः ।
स्वस्थस्तिष्ठेन्निषीदेद्वा शयेद्वा किं पुनर्हसेत् ॥ ५९ ॥

कौन सचेतन (बुद्धिमान्), जरा, व्याधि एवं मृत्यु को जानता हुआ स्वस्थ (शांत), खड़ा, बैठा, सोया रह सकता है, फिर हँस कैसे सकता है ॥५९॥

यस्तु दृष्ट्वा परं जीर्णं व्याधितं मृतमेव च ।
स्वस्थो भवति नोद्विग्नो यथाचेतास्तथैव सः ॥ ६० ॥

जो, किसी वृद्ध, रोगी, या मृतक को देखकर स्वस्थ (शान्त) रहता है, एवं उद्विग्न नहीं होता, वह अचेतन (जड़) सदृश है ॥ ६० ॥

वियुज्यमाने हि तरौ पुष्पैरपि फलैरपि ।
पतति च्छिद्यमाने वा तरुरन्यो न शोचते ॥ ६१ ॥

निश्चय ही, एक वृक्ष, पुष्प या फल से वियुक्त होता है, अथवा का जाने पर गिरता है तब दूसरा वृक्ष शोक नहीं करता ॥ ६१ ॥

इति ध्यानपरं दृष्ट्वा विषयेभ्यो गतस्पृहम् ।
उदायी नीतिशास्त्रज्ञस्तमुवाच सुहृत्तया ॥ ६२ ॥

इस तरह उसको ध्यान-मग्न एवं विषयों से निस्पृह देख, नीति शास्त्र ज्ञाता उदायी उससे मित्रतापूर्वक बोला ॥ ६२ ॥

अहं नृपतिना दत्तः सखा तुभ्यं क्षमः किल ।
यस्मात्त्वयि विवक्षा मे तया प्रणयवत्तया ॥ ६३ ॥

राजा द्वारा नियुक्त मैं, तुम्हारे लिये निश्चय ही समर्थ मित्र हूँ। अत मित्रता के नाते मुझे तुमसे कुछ कहना है ॥ ६३ ॥

अहितात् प्रतिषेधश्च हिते चानुप्रवर्तनम् ।
व्यसने चापरित्यागस्त्रिविधं मित्रलक्षणम् ॥ ६४ ॥

अहित में निषेध करना, हित में नियुक्त करना, विपत्ति में भी न छोड़ना ये ही मित्र के तीन लक्षण हैं ॥ ६४ ॥

सोऽहं मैत्रीं प्रतिज्ञाय पुरुषार्थात्पराङ्मुखः ।
यदि त्वां समुपेक्षेय न भवेन्मित्रता मयि ॥ ६५ ॥

सो मैं, मित्रता की प्रतिज्ञा कर, पुरुषार्थ (स्वकर्त्तव्य) से विमुख होकर, यदि तुम्हारी उपेक्षा करूँ तो मुझमें मित्रता नहीं होगी ॥ ६५ ॥

तद् ब्रवीमि सुहृद् भूत्वा तरुणस्य वपुष्मतः ।
इदं न प्रतिरूपं ते स्त्रीष्वदाक्षिण्यमीदृशम् ॥ ६६ ॥

अतः मित्र होकर मैं बोलता हूँ कि स्त्रियों के प्रति, इस प्रकार की यह उदासीनता तुम जैसे युवा सुन्दर के अनुरूप नहीं है ॥ ६६ ॥

अनृतेनापि नारीणां युक्तं समनुवर्तनम् ।
तद्व्रीडापरिहारार्थमात्मरत्यर्थमेव च ॥ ६७ ॥

स्त्रियों के लज्जा-परिहार (सम्बोधन) के लिये तथा अपने मनोरंजन के लिये दिखावापन से भी उनके अनुकूल व्यवहार करना योग्य है ॥ ६७ ॥

संनतिश्चानुवृत्तिश्च स्त्रीणां हृदयबन्धनम् ।
स्नेहस्य हि गुणा योनिर्मानकामाश्च योषितः ॥ ६८ ॥

नम्रता एवं अनुकूल आचरण ही स्त्रियों का हृदय (प्रेम) बन्धन है। गुण (सद्भाव) ही प्रेम का उद्‌गम स्थान है। स्त्रियाँ सम्मान चाहती हैं ॥६८॥

तदर्हसि विशालाक्ष हृदयेऽपि पराङ्मुखे ।
रूपस्यास्यानुरूपेण दाक्षिण्येनानुवर्तितुम् ॥ ६९ ॥

अतः हे विपुलनयन ! हृदय विमुख उदासीन होने पर भी, इस सौन्दर्य के अनुरूप भी चातुर्य से उनके अनुरूप व्यवहार करना चाहिये ॥ ६९ ॥

दाक्षिण्यमौषधं स्त्रीणां दाक्षिण्यं भूषणं परम् ।
दाक्षिण्यरहितं रूपं निष्पुष्पमिव काननम् ॥ ७० ॥

'सहृदयता' स्त्रियों के लिये औषधि है, सहृदयता उत्तम भूषण है। सहृदयता-रहित रूप (सौन्दर्य) पुष्प शून्य वाटिका सदृश हैं ॥ ७० ॥

किं वा दाक्षिण्यमात्रेण भावेनास्तु परिग्रहः ।
विषयान्दुर्लभाँल्लब्ध्वा न ह्यवज्ञातुमर्हसि ॥ ७१ ॥

केवल चतुराई से ही क्यों ? भाव (अन्तर्मन) से ग्रहण (सेवन) करना चाहिये। दुर्लभ विषय को पाकर, तुम्हें उनकी अवहेलना नहीं करना चाहिये ॥ ७१ ॥

कामं परमिति ज्ञात्वा देवोऽपि हि पुरन्दरः ।
गौतमस्य मुनेः पत्नीमहल्यां चकमे पुरा ॥ ७२ ॥

काम को उत्तम जानकर इन्द्रदेव ने भी गौतम मुनि की पत्नी अहिल्या को कभी चाहा था ॥ ७२ ॥

अगस्त्यः प्रार्थयामास सोमभार्यां च रोहिणीम् ।
तस्मात्तत्सदृशीं लेभे लोपामुद्रामिति श्रुतिः ॥ ७३ ॥

अगस्त्य ने चन्द्रमा की भार्या रोहिणी की प्रार्थना की थी अतः उसी के समान लोपामुद्रा पत्नी प्राप्त की—ऐसी श्रुति है ॥ ७३ ॥

उतथ्यस्य च भार्यायां ममतायां महातपाः ।
मारुत्यां जनयामास भरद्वाजं बृहस्पतिः ॥ ७४ ॥

उतथ्य की भार्या, मरुत की पुत्री ममता में, महातपस्वी बृहस्पति ने भरद्वाज को उत्पन्न किया ॥ ७४ ॥

बृहस्पतेर्महिष्यां च जुह्वत्यां जुह्वतां वरः ।
बुधं विबुधकर्माणं जनयामास चन्द्रमाः ॥ ७५ ॥

जुह्वती नामक, बृहस्पति की महिषी में, हवन करने वालों में श्रेष्ठ चन्द्रमा ने देवता के समान कर्मवाले बुध को उत्पन्न किया ॥ ७५ ॥

कालीं चैव पुरा कन्यां जलप्रभवसंभवाम् ।
जगाम यमुनातीरे जातरागः पराशरः ॥ ७६ ॥

पूर्व काल में काम-राग होने पर, पराशर ने यमुना तट पर मछली से प्रभव (उत्पन्न) काली नामक कन्या से संभोग किया ॥ ७६ ॥

मातङ्गयामक्षमालायां गर्हितायां रिरंसया ।
कपिञ्जलादं तनयं वसिष्ठोऽजनयन्मुनिः ॥ ७७ ॥

वसिष्ठ मुनि ने रमण की इच्छा से गर्हित (निन्दित) मतङ्ग (चाण्डाल) की कन्या में कपिंजलाद नामक पुत्र उत्पन्न किया ॥ ७७ ॥

ययातिश्चैव राजर्षिर्वयस्यपि विनिर्गते ।
विश्वाच्याप्सरसा सार्धं रेमे चैत्ररथे वने ॥ ७८ ॥

तथा अवस्था निकल जाने पर भी राजर्षि ययाति ने चैत्रवन में विश्वाची अप्सरा के साथ रमण किया ॥ ७८ ॥

स्त्रीसंसर्गं विनाशान्तं पाण्डुर्ज्ञात्वापि कौरवः ।
माद्रीरूपगुणाक्षिप्तः सिषेवे कामजं सुखम् ॥ ७९ ॥

कुरुवंशी पाण्डु ने स्त्री-समागम को प्राणान्तकारी जानकर भी माद्री के गुण से मोहित होकर कामजन्य सुख का सेवन किया ॥ ७९ ॥

करालजनकश्चैव हृत्वा ब्राह्मणकन्यकाम् ।
अवाप भ्रंशमप्येवं न तु सेजे न मन्मथम् ॥ ८० ॥

करालजनक भी इसी तरह ब्राह्मण कन्या का अपहरण करके भ्रष्ट हुआ तिस पर भी काम में आसक्त नहीं हुआ ? अपितु हुआ ही ॥ ८० ॥

एवमाद्या महात्मानो विषयान् गर्हितानपि ।
रतिहेतोर्बुभुजिरे प्रागेव गुणसंहितान् ॥ ८१ ॥

इस प्रकार आद्य ऋषियों ने सुख के लिये निन्दित विषयों का उपभोग किया गुणयुक्त विषयों का प्रथम ही ॥ ८१ ॥

त्वं पुनर्न्यायतः प्राप्तान् बलवान् रूपवान्युवा ।
विषयानवजानासि यत्र सक्तमिदं जगत् ॥ ८२ ॥

तुम तो बलवान् रूपवान् युवक हो, फिर न्यायतः प्राप्त विषयों का तिरस्कार करते हो जिसमें यह विश्व अनुरक्त है ॥ ८२ ॥

इति श्रुत्वा वचस्तस्य श्लक्ष्णमागमसंहितम् ।
मेघस्तनितनिर्घोषः कुमारः प्रत्यभाषत ॥ ८३ ॥

उस उदायी का मधुर एवं शास्त्र-संगृहीत वचन सुनकर मेघ-गर्जन-ध्वनि सदृश कुमार ने उत्तर दिया ॥ ८३ ॥

उपपन्नमिदं वाक्यं सौहार्दव्यञ्जकं त्वयि ।
अत्र च त्वानुनेष्यामि यत्र मा दुष्टु मन्यसे ॥ ८४ ॥

यह मैत्रीसूचक वचन तुममें योग्य हैं (ऐसा कौन कह सकता है) किन्तु इस विषय में मैं तुमसे कुछ अनुनय करूँगा जिसमें मेरा दोष मानते हो ॥ ८४ ॥

नावजानामि विषयान् जाने लोकं तदात्मकम् ।
अनित्यं तु जगन्मत्वा नात्र मे रमते मनः ॥ ८५ ॥

मैं विषयों की उपेक्षा नहीं करता हूँ । संसार को तन्मय (विषयस्वरूप) जानता हूँ, किन्तु जगत् को अनित्य मानकर मेरा मन इसमें नहीं रम रहा है ॥ ८५ ॥

जरा व्याधिश्च मृत्युश्च यदि न स्यादिदं त्रयम् ।
ममापि हि मनोज्ञेषु विषयेषु रतिर्भवेत् ॥ ८६ ॥

यदि जरा, व्याधि एवं मृत्यु, ये तीनों न होते तो इन मनोहर विषयों में मेरा भी प्रेम होता ॥ ८६ ॥

नित्यं यद्यपि हि स्त्रीणामेतदेव वपुर्भवेत्।
दोषवत्स्वपि कामेषु कामं रज्येत मे पुनः ॥ ८७ ॥

स्त्रियों का यह शरीर भी यदि नित्य (शाश्वत) होता तो दोषयुक्त पर भी विषयों में मेरा मन अवश्य रमता ॥ ८७ ॥

यदा तु जरया पीतं रूपमासां भविष्यति।
आत्मनोऽप्यनभिप्रेतं मोहात्तत्र रतिर्भवेत् ॥ ८८ ॥

जब कि इनका रूप वृद्धत्व के द्वारा पी लिया जावेगा, तब अपने भी वह घृणास्पद प्रतीत होगा, अतः मोह के कारण उसमें प्रेम होता है ॥८

मृत्युव्याधिजराधर्मा मृत्युव्याधिजरात्मभिः।
रममाणो ह्यसंविग्नः समानो मृगपक्षिभिः ॥ ८९ ॥

मृत्यु व्याधि एवं जरा स्वरूप मनुष्य, मृत्यु, व्याधि तथा जरा रूप वि से रमता हुआ यदि अनुरक्त ही रहता है तो वह मृग-पक्षियों के समान है ॥८

यदप्यात्थ महात्मानस्तेऽपि कामात्मका इति।
संवेगोऽत्रैव कर्तव्यो यदा तेषामपि क्षयः ॥ ९० ॥

जो तुमने कहा कि वे महात्मा भी कामासक्त थे, इसमें तो संवेग (भ ही करना चाहिये क्योंकि उनका भी पतन ही हुआ है ॥ ९० ॥

माहात्म्यं नहि तन्मन्ये यत्र सामान्यतः क्षयः।
विषयेषु प्रसक्तिर्वा युक्तिर्वा नात्मवत्तया ॥ ९१ ॥

मैं उसे महत्त्वपूर्ण नहीं मानता जिसमें सर्वथा क्षय होता है। आत्मवे को विषयों में आसक्ति नहीं होती और न वे उस सम्बन्ध में उपाय करते हैं ॥ ९१ ॥

यदप्यात्थानृतेनापि स्त्रीजने वर्त्यतामिति।
अनृतं नावगच्छामि दाक्षिण्येनापि किञ्चन ॥ ९२ ॥

और तुमने जो कहा कि स्त्रियों में मिथ्यापन से भी बर्ताव करना चाहि तो मैं कपट नहीं समझता हूँ और न चतुराई से कुछ समझता हूँ ॥ ९२ ॥

न चानुवर्तनं तन्मे रुचितं यत्र नार्जवम्।
सर्वभावेन संपर्को यदि नास्ति धिगस्तु तत् ॥ ९३ ॥

मुझे उस सदृश आचरण नहीं रुचता जिसमें निश्चलता न हो। यदि सर्वभाव (बाह्यान्तर) से सम्बन्ध नहीं है तो उसे धिक्कार है ॥ ९३ ॥

अधृतेः श्रद्दधानस्य सक्तस्यादोषदर्शिनः ।
किं हि वञ्चयितव्यं स्याज्जातरागस्य चेतसः ॥ ९४ ॥

अधीर, विश्वस्त, आसक्त, जिन्हें दोष नहीं दीखता और अनुरक्त चित्त को क्या धोखा देना चाहिये ? ॥ ९४ ॥

वञ्चयन्ति च यद्येवं जातरागाः परस्परम् ।
ननु नैव क्षमं द्रष्टुं नराः स्त्रीणां नृणां स्त्रियः ॥ ९५ ॥

यदि अनुरक्त मनुष्य एक दूसरे को इस तरह धोखा देते हैं तो वे पुरुष स्त्रियों के तथा वे स्त्रियाँ पुरुषों के देखने योग्य नहीं हैं ॥ ९५ ॥

तदेवं सति दुःखार्तं जरामरणभागिनम् ।
न मां कामेष्वनार्येषु प्रतारयितुमर्हसि ॥ ९६ ॥

अतः जो (मैं) दुःख से पीड़ित हूँ एवं जन्म-मृत्यु का भागी हूँ—ऐसा मुझे अशुभ विषयों में फँसाकर (तुम) न ठगो ॥ ९६ ॥

अहोऽतिधीरं बलवच्च ते मनश्चलेषु कामेषु च सारदर्शिनः ।
भयेऽतितीव्रे विषयेषु सज्जसे निरीक्षमाणो मरणाध्वनि प्रजाः ॥९७॥

अहो ! तुम्हारा मन अत्यन्त धीर एव बलवान है जो कि तुम क्षणिक विषयों में सार देखते हो। अत्यन्त तीक्ष्ण तथा भयंकर मृत्यु-मार्ग में स्थित प्रजाओं को देखते हुए भी तुम विषयों में आसक्त होते हो ॥ ९७ ॥

अहं पुनर्भीरुरतीवविक्लवो जराविपद्व्याधिभयं विचिन्तयन् ।
लेभे न शान्तिं न धृतिं कुतो रतिं निशामयन्दीप्तमिवाग्निना जगत् ॥९८॥

मैं तो जन्म, मृत्यु और व्याधि से होनेवाले भय को देखकर अत्यन्त भयातुर एवं विकल हूँ। अग्नि से जलते हुए के समान जगत् को देखते हुए मुझे न शान्ति है, न धीरज है ॥ ९८ ॥

असंशयं मृत्युरिति प्रजानतो नरस्य रागो हृदि यस्य जायते ।
अयोमयीं तस्य परैमि चेतनां महाभये रज्यति यो न रोदिति ॥९९॥

'मृत्यु निश्चित है'—यह बात जानते हुए भी जिन मनुष्यों के हृदय में भोगेच्छा होती है उनकी बुद्धि (मैं) लोहे की समझता हूँ, जो कि महाभय (मृत्यु) को देखते हुए भी विषय से राग करता है (किन्तु) रोता नहीं है ॥९९॥

अथो कुमारश्च विनिश्चयात्मिकां चकार कामाश्रयघातिनीं कथाम्।
जनस्य चक्षुर्गमनीयमण्डलो महीधरं चास्तमियाय भास्करः ॥ १००॥

इस प्रकार कुमार ने काम के आश्रय (मूल) को नष्ट करनेवाली निश्चयात्मक बातें कहीं। तब लोगों के नेत्र द्वारा देख सकने योग्य मण्डल वाला सूर्य अस्ताचल को गये ॥ १०० ॥

ततो वृथा धारितभूषणस्रजः कलागुणैश्च प्रणयैश्च निष्फलैः।
स्व एव भावे विनिगृह्य मन्मथं पुरं ययुर्भग्नमनोरथाः स्त्रियः ॥१०१॥

तब वे स्त्रियाँ, जिनके धारण किये हुए भूषण तथा मालायें व्यर्थ हो गये हैं और उत्कृष्ट कला, गुणों तथा प्रेम-लीलाओं के निष्फल हो जाने से, काम भाव को अपने आप में निरुद्ध करके, निराश होकर नगर को लौट गईं ॥१०१॥

ततः पुरोद्यानगतां जनश्रियं निरीक्ष्य सायं प्रतिसंहृतां पुनः।
अनित्यतां सर्वगतां विचिन्तयन्विवेश धिष्ण्यं क्षितिपालकात्मजः ॥१०२॥

तब नगर की उद्यानगत जनशोभा को सायंकाल पुनः सिमटी हुई देखकर 'अनित्यता सर्वगत (सर्वव्यापी) है'—ऐसा चिन्तन करते हुए क्षितिपाल-पुत्र प्रासाद को गया ॥ १०२ ॥

ततः श्रुत्वा राजा विषयविमुखं तस्य तु मनो
न शिश्ये तां रात्रिं हृदयगतशल्यो गज इव।
अथ श्रान्तो मन्त्रे बहुविविधमार्गे ससचिवो
न सोऽन्यत्कामेभ्यो नियमनमपश्यत् सुतमतेः ॥ १०३ ॥

इति स्त्रीनिवारणो नाम चतुर्थः सर्गः।

तब राजा उस कुमार का मन विषयों से विमुख हुआ सुन, जिसके हृदय में बाण चुभ गया हो–ऐसे हाथी के समान, उस रात्रि को नहीं सो सका तथा मन्त्री सहित विविध प्रयत्न करने की मन्त्रणा में थककर उसने पुत्र की बुद्धि को नियन्त्रण करने के लिए, काम के अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं देखा।

'स्त्रीनिवारण' नामक चतुर्थ सर्ग समाप्त।

—:०:—

अथ पंचमः सर्गः

अभिनिष्क्रमणम्

अभिनिष्क्रमण

स तथा विषयैर्विलोभ्यमानः परमार्हैरपि शाक्यराजसूनुः ।
न जगाम धृतिं न शर्म लेभे हृदये सिंह इवातिदिग्धविद्धः ॥ १ ॥

वह शाक्यराज का पुत्र यद्यपि परम उत्कृष्ट विषयों से लुभाया गया किन्तु अत्यन्त विषाक्त बाण से विद्ध सिंहके समान उसको न धैर्य हुआ न शान्ति ॥१॥

अथ मन्त्रिसुतैः क्षमैः कदाचित् सखिभिश्चित्रकथैः कृतानुयात्रः ।
वनभूमिदिदृक्षया शमेप्सुर्नरदेवानुमतो बहिः प्रतस्थे ॥ २ ॥

तब एक समय, शान्ति की इच्छावाला वह चित्र-विचित्र कहानियाँ जाननेवाले अपने समर्थ मन्त्रि-पुत्रों के साथ वनप्रान्त देखने की इच्छा से, राजा की आज्ञा पाकर बाहर निकला ॥ २ ॥

नवरुक्मखलीनकिङ्किणीकं प्रचलच्चामरचारुहेमभाण्डम् ।
अभिरुह्य स कन्थकं सदश्वं प्रययौ केतुमिव द्रुमाब्जकेतुः ॥ ३ ॥

वृक्ष एवं कमल अंकित पताका वाला वह, नवीन सुवर्ण निर्मित लगाम और घंटी से युक्त, चलायमान चामर और सुन्दर स्वर्ण भूषणवाले, केतु के समान कन्थक (जाति विशेष) शुभ लक्षण युक्त घोड़े पर चढ़कर निकला ॥ ३ ॥

स विकृष्टतरां वनान्तभूमिं वनलोभाच्च ययौ महीगुणाच्च ।
सलिलोर्मिविकारसीरमार्गां वसुधां चैव ददर्श कृष्यमाणाम् ॥ ४ ॥

वन-दर्शन के लोभ और पृथ्वी के गुण विशेष से आकृष्ट होकर सुदूर वन के अन्त (पार) की भूमि की ओर गया, तथा जल-तरङ्ग की भाँति विकृत, हल मार्ग (जुती हुई नाली) वाली पृथ्वी को जुतते हुए उसने देखा ॥ ४ ॥

हलभिन्नविकीर्णशष्पदर्भां हतसूक्ष्मक्रिमिकीटजन्तुकीर्णाम्।
समवेक्ष्य रसां तथाविधां तां स्वजनस्येव वधे भृशं शुशोच ॥५॥

हल जुतने से तृण, कुशाएँ, छिन्न-भिन्न हो गई थीं, छोटे-छोटे
मकोड़े मरकर बिछ गये थे—वैसी उस वसुधा को देखकर अत्यन्त शो
किया, मानों स्वजन का वध हुआ हो ॥ ५ ॥

कृषतः पुरुषांश्च वीक्षमाणः पवनार्कांशुरजोविभिन्नवर्णान्।
वहनक्लमविक्लवांश्च धुर्यान् परमार्यः परमां कृपां चकार ॥ ६॥

पवन, सूर्य-किरण एवं धूलि से विवर्ण (रूक्ष) किसानों को, तथा
ढोने के परिश्रम से व्याकुल बैलों को देखकर, अत्यन्त सरल कुमार ने
करुणा की ॥ ६ ॥

अवतीर्य ततस्तुरङ्गपृष्ठाच्छनकैर्गां व्यचरच्छुचा परीतः।
जगतो जननव्ययं विचिन्वन् कृपणं खल्विदमित्युवाच चार्तः ॥ ७

तब अश्व की पीठ से उतरकर शोक से विह्वल वह पृथ्वी पर मन्द गति
चला और विश्व के जन्म मृत्यु का विवेचन करते हुए, दुःखी होकर बोला-
'ससार सचमुच में दीन है' ॥ ७ ॥

मनसा च विविक्ततामभीप्सुः सुहृदस्ताननुयायिनो निवार्य।
अभितश्चलचारुपर्णवत्या विजने मूलमुपेयिवान् स जम्ब्वाः ॥ ८

मन में एकाग्रता की अभिलाषा से, पीछे आनेवाले मित्रों को
रोककर, वह चारों ओर हिल रहे पत्तेवाले एकान्त स्थित जम्बु वृक्ष के
में गया ॥ ८ ॥

निषसाद स यत्र शौचवत्यां भुवि वैडूर्यनिकाशशाद्वलायाम्।
जगतः प्रभवाप्ययौ विचिन्वन् मनसश्च स्थितिमार्गमाललम्बे ॥९

वहाँ वह, हरित मणि सदृश तृण युक्त पवित्र भूमि पर बैठा और वि
के जन्म मृत्यु की गवेषणा करते हुए मन की एकाग्रता के मार्ग
सहारा लिया ॥ ९ ॥

समवाप्तमनःस्थितिश्च सद्यो विषयेच्छादिभिराधिभिश्च मुक्तः।
सवितर्कविचारमाप शान्तं प्रथमं ध्यानमनास्रवप्रकारम् ॥ १०

प्रथम वह विषयों की इच्छा आदि मानसिक दुःख से युक्त था। (किन्तु) वहाँ उसने शीघ्र ही मानसिक स्थिरता प्राप्त की तथा राग-द्वेष आदि द्वन्द्व का न होने का प्रकार, शान्त, तर्क सहित विचार रूप ध्यान प्राप्त किया ॥ १० ॥

अधिगम्य ततो विवेकजं तु परमप्रीतिसुखं मनःसमाधिम् ।
इदमेव ततः परं प्रदध्यौ मनसा लोकगतिं निशाम्य सम्यक् ॥ ११ ॥

तब (उसने) विवेकजन्य अत्यन्त प्रेम एवं सुख देनेवाली, मानसिक समाधि (एकाग्रता) प्राप्त करके, इसके आगे लोक की गति को अच्छी तरह देखते हुए, इसी विषय का प्रगाढ़ ध्यान (विचार) किया ॥ ११ ॥

कृपणां बत यज्जनः स्वयं सन्नवशो व्याधिजराविनाशधर्मा ।
जरयार्दितमातुरं मृतं वा परमज्ञो विजुगुप्सते मदान्धः ॥ १२ ॥

कितनी मूर्खता है कि व्याधि, जरा, मरणशील तथा स्वयं पराधीन अज्ञानी मदान्ध पुरुष, जरा से पीड़ित रोगी तथा मृत अन्य लोगों को देखकर, उनकी अवहेलना करता है ॥ १२ ॥

इह चेदहमीदृशः स्वयं सन् विजुगुप्सेय परं तथास्वभावम् ।
न भवेत्सदृशं हि तत्क्षमं वा परमं धर्ममिमं विजानतो मे ॥ १३ ॥

इस संसार में यदि मैं स्वयं इस प्रकार का होकर के भी दूसरे वैसा ही (मरण-व्याधि) स्वभाव वाले की उपेक्षा करूँ तो परम धर्म को जाननेवाले मेरे अनुरूप (योग्य) यह नहीं होगा ॥ १३ ॥

इति तस्य विपश्यतो यथावज्जगतो व्याधिजराविपत्तिदोषान् ।
बलयौवनजीवितप्रवृत्तो विजगामात्मगतो मदः क्षणेन ॥ १४ ॥

इस प्रकार जगत के व्याधि-जरा-विनाश रूप दोषों को यथावत् विचारते हुए, उसका बल, यौवन, जीवन से जन्य आत्मगत मद (अभिमान) तत्काल विगलित हो गया ॥ १४ ॥

न जहर्ष न चापि चानुतेपे विचिकित्सां न ययौ न तन्द्रिनिद्रे ।
न च कामगुणेषु संररञ्जे न विदिद्वेष परं न चावमेने ॥ १५ ॥

उसको हर्ष, सन्ताप और सन्देह नहीं हुये, निद्रा या तन्द्रा नहीं आई,

काम (विषय) के गुणों (स्वाद) में प्रेम नहीं हुआ। उसके द्वारा न किसी से द्वेष हुआ और न किसी का अपमान हुआ॥ १५॥

इति बुद्धिरियं च नीरजस्का ववृधे तस्य महात्मनो विशुद्धा।
पुरुषैरपरैरदृश्यमानः पुरुषश्चोपससर्प भिक्षुवेषः॥ १६॥

इस तरह उस महात्मा की यह मल रहित विशुद्ध बुद्धि बढ़ी और दूसरे लोगों द्वारा नहीं देखा जाता हुआ एक पुरुष भिक्षु वेष में उसके पास आया।

नरदेवसुतस्तमभ्यपृच्छद्वद कोऽसीति शशंस सोऽथ तस्मै।
नरपुंगव जन्ममृत्युभीतः श्रमणः प्रव्रजितोऽस्मि मोक्षहेतोः॥ १७॥

राज-पुत्र ने उससे पूछा—"कहो, कौन हो?" तब उसने उससे कहा—हे नरश्रेष्ठ! जन्म-मृत्यु से डरा हुआ मैं संन्यासी हूँ तथा मोक्ष के लिए संन्यास लिया हूँ॥ १७॥

जगति क्षयधर्मके मुमुक्षुर्मृगयेऽहं शिवमक्षयं परं तत्।
स्वजनेऽन्यजने च तुल्यबुद्धिर्विषयेभ्यो विनिवृत्तरागदोषः॥ १८॥

नश्वर जगत् में मोक्ष की इच्छावाला मैं, प्रसिद्ध कल्याणमय अविनाशी पद खोज रहा हूँ। निज और पराये में समान बुद्धि होकर, विषयों के राग-द्वेष से रहित हो गया हूँ॥ १८॥

निवसन् क्वचिदेव वृक्षमूले विजने वायतने गिरौ वने वा।
विचराम्यपरिग्रहो निराशः परमार्थाय यथोपपन्नभैक्षः॥ १९॥

कभी वृक्ष की जड़ में, कभी निर्जन देवालय में, कभी पर्वत पर और कभी वन में रहता हुआ, संग्रहरहित, आशारहित अनायास जो मिल जावे, वही खाकर मोक्ष के लिए घूम रहा हूँ॥ १९॥

इति पश्यत एव राजसूनोरिदमुक्त्वा स नभः समुत्पपात।
स हि तद्वपुरन्यबुद्धदर्शी स्मृतये तस्य समेयिवान्दिवौकाः॥ २०॥

ऐसा कहकर, राजकुमार के देखते वह आकाश में उड़ गया। दूसरे बुद्धों को देखनेवाला वह ऐसा शरीरधारी देवता था (जो कि) उसकी स्मृति जगाने के लिए आया था॥ २०॥

गगनं खगवद्गते च तस्मिन् नृवरः संजहृषे विसिस्मिये च।
उपलभ्य ततश्च धर्मसंज्ञामभिनिर्याणविधौ मतिं चकार ॥ २१ ॥

पंछी की तरह (पक्षि सदृश) उसके आकाश में उड़ जाने पर, वह नर बड़ा प्रसन्न एवं विस्मित हुआ तथा उससे धर्म का ज्ञान प्राप्त कर, उसने घर से निकलने को सोचा । २१ ॥

तत इन्द्रसमो जितेन्द्रियाश्वः प्रविविक्षुः पुरमश्वमारुरोह।
परिवारजनं त्ववेक्षमाणस्तत एवाभिमतं वनं न भेजे ॥ २२ ॥

तब, इन्द्रिय रूप अश्वोंको जीतने वाला, इन्द्र के समान वह, नगर में जाने की इच्छा से घोड़े पर चढ़ा। वहाँ परिजनों को देखता हुआ, वहीं से अभीष्ट वन को नहीं गया ॥ २२ ॥

स जरामरणक्षयं चिकीर्षुर्वनवासाय मतिं स्मृतौ निधाय।
प्रविवेश पुनः पुरं न कामाद्वनभूमेरिव मण्डलं द्विपेन्द्रः ॥ २३ ॥

जरा-मरण का क्षय करने की इच्छा से बन में निवास करने का अपना निश्चय स्मरण में रखते हुए, अनिच्छापूर्वक नगर में उसी तरह प्रवेश किया जैसे हाथी बनभूमि से, पालतू हाथियों के झुण्ड में प्रवेश करता हो ॥ २३ ॥

सुखिता बत निर्वृता च सा स्त्री पतिरीदृक्ष इहायताक्ष यस्याः।
इति तं समुदीक्ष्य राजकन्या प्रविशन्तं पथि साञ्जलिर्जगाद ॥२४॥

किसी राजकन्या ने मार्ग में प्रवेश करते हुए, उसे देखकर हाथ जोड़ कर कहा— हे विशालनयन ! इस लोक में जिसका पति ऐसा है वह स्त्री सुखी एवं कृतार्थ है ॥ २४ ॥

अथ घोषमिमं महाभ्रघोषः परिशुश्राव शमं परं च लेभे।
श्रुतवान्स हि निर्वृतेति शब्दं परिनिर्वाणविधौ मतिं चकार ॥ २५ ॥

महामेघ सदृश गम्भीर ध्वनि वाला उसने 'निर्वृत' (कृतार्थ) यह शब्द सुनकर परम शान्ति प्राप्त की, तथा उस शब्द को सुनकर परिनिर्वाण की विधि (युक्ति) सोची ॥ २५ ॥

अथ काञ्चनशैलशृङ्गवर्ष्मा गजमेघर्षभबाहुनिस्वनाक्षः।
क्षयमक्षयधर्मजातरागः शशिसिंहाननविक्रमः प्रपेदे ॥ २६ ॥

तब सुमेरु शिखर के समान उन्नत शरीर वाला, हाथी (के सूँड़) के समान भुजा वाला, मेघ के समान ध्वनि वाला, ऋषभ (बैल) के समान नेत्र वाला, चन्द्रमा के समान मुख वाला एवं सिंह के समान पराक्रम वाला 'वह' जिसको अक्षय धर्म में प्रेम उत्पन्न हुआ है, महल में गया ॥ २६ ॥

मृगराजगतिस्ततोऽभ्यगच्छन्नृपतिं मन्त्रिगणैरुपास्यमानम् ।
समितौ मरुतामिव ज्वलन्तं मघवन्तं त्रिदिवे सनत्कुमारः ॥ २७ ॥

तब मृगराज के समान गतिमान् 'वह' मन्त्रियों द्वारा सेवित राजा के पास गया, जैसे स्वर्ग में देवताओं की सभा में सुशोभित इन्द्र के पास सनत्कुमार जाते हैं ॥ २७ ॥

प्रणिपत्य स चाञ्जलिर्बभाषे दिश मह्यं नरदेव साध्वनुज्ञाम् ।
परिविव्रजिषामि मोक्षहेतोर्नियतो ह्यस्य जनस्य विप्रयोगः ॥ २८ ॥

और करबद्ध प्रणाम कर बोला—हे नरदेव ! मुझे शुभ आज्ञा देवें। मैं मोक्ष के लिए संन्यास लेना चाहता हूँ, क्योंकि एक दिन इस (मुझ) व्यक्ति का अवश्य ही वियोग होगा ॥ २८ ॥

इति तस्य वचो निशम्य राजा करिणेवाभिहतो द्रुमश्चचाल ।
कमलप्रतिमेऽञ्जलौ गृहीत्वा वचनं चेदमुवाच बाष्पकण्ठः ॥ २९ ॥

उसका वचन सुनकर, हाथी (की ठोकर) से आहत वृक्ष की भाँति, राजा काँप गया और कमलसदृश कर-पुट में पकड़कर अश्रुरुद्ध गद्गद स्वर से यह वचन बोला—॥ २९ ॥

प्रतिसंहर तात बुद्धिमेतां न हि कालस्तव धर्मसंश्रयस्य ।
वयसि प्रथमे मतौ चलायां बहुदोषां हि वदन्ति धर्मचर्याम् ॥ ३० ॥

हे तात ! इस बुद्धि को लौटा लो । धर्म का आश्रय (सेवन) का तुम्हारा समय (अवस्था) नहीं है । प्रथम अवस्था में मन चंचल रहने के कारण धर्माचरण में बहुत दोष बताते हैं ॥ ३० ॥

विषयेषु कुतूहलेन्द्रियस्य व्रतखेदेष्वसमर्थनिश्चयस्य ।
तरुणस्य मनश्चलत्यरण्यादनभिज्ञस्य विशेषतो विवेके ॥ ३१ ॥

विषयों के प्रति, तरुण की इन्द्रियाँ उत्कण्ठित रहती हैं तथा व्रत के दुःख सहने में वह निश्चित रूप में असमर्थ रहता है। अतः अरण्य से (उसका) मन विचलित हो जाता है, विशेषतः विवेक (निर्णय) में वह अनभिज्ञ रहता है ॥ ३१ ॥

मम तु प्रियधर्म धर्मकालस्त्वयि लक्ष्मीमवसृज्य लक्ष्मभूते।
स्थिरविक्रम विक्रमेण धर्मस्तव हित्वा तु गुरुं भवेदधर्मः ॥ ३२ ॥

हे प्रियधर्म! लक्षणसम्पन्न तुझ पर लक्ष्मी (राज्य) सौंपकर मेरा धर्म (आचरण) का काल (आ गया) है। हे स्थिरविक्रम! पुरुषार्थ से तुम्हें धर्म होगा। (किन्तु) पिता के त्याग से तो अधर्म ही होगा ॥ ३२ ॥

तदिमं व्यवसायमुत्सृज त्वं भव तावन्निरतो गृहस्थधर्मे।
पुरुषस्य वयःसुखानि भुक्त्वा रमणीयो हि तपोवनप्रवेशः ॥ ३३ ॥

अतः तुम इस निश्चय को त्यागो और गृहस्थ धर्म में तत्पर होओ। युवावस्था का सुख भोग लेने पर मनुष्य का तपोवन में प्रवेश करना शोभा देता है ॥ ३३ ॥

इति वाक्यमिदं निशम्य राज्ञः कलविङ्कस्वर उत्तरं बभाषे।
यदि मे प्रतिभूश्चतुर्षु राजन् भवसि त्वं न तपोवनं श्रयिष्ये ॥ ३४ ॥

राजा का यह वचन सुनकर कलविङ्क (पक्षी का नाम) के स्वर से उसने यह उत्तर दिया—हे राजन्! यदि चार बातों में मेरे रक्षक बनें तो मैं वन का आश्रय न लूँ ॥ ३४ ॥

न भवेन्मरणाय जीवितं मे विहरेत्स्वास्थ्यमिदं च मे न रोगः।
न च यौवनमाक्षिपेज्जरा मे न च संपत्तिमिमां हरेद्विपत्तिः ॥ ३५ ॥

मेरा जीवन, मरण के लिये न हो, रोग, हमारे इस आरोग्य को न हरे, बुढ़ापा, योवन को विक्षित न करे और न विपत्ति मेरी इस सम्पत्ति, को हरे ॥

इति दुर्लभमर्थमूचिवांसं तनयं वाक्यमुवाच शाक्यराजः।
त्यज बुद्धिमिमामतिप्रवृद्धामवहास्योऽतिमनोरथोऽक्रमश्च ॥ ३६ ॥

इस तरह असम्भव बात को कहने वाले अपने पुत्र से शाक्यराज ने

कहा—अधिक बढ़ी-चढ़ी इस बुद्धि का परित्याग करो। असम्बद्ध एवं अप्राप्य कामना (करने वालों) का उपहास (निन्दा) होता है ॥ ३६ ॥

अथ मेरुगुरुर्गुरुं बभाषे यदि नास्ति क्रम एष नास्मि वार्यः।
शरणाज्ज्वलनेन दह्यमानान्न हि निश्चिक्रमिषुः क्षमं ग्रहीतुम् ॥३७॥

तब मेरु सदृश महान् पुत्र ने कहा—यदि क्रम (सम्बद्ध) नहीं है तो भी मुझे न छेड़िये; क्योंकि जल रहे घर से भागने की इच्छा वाले को रोकना उचित नहीं है ॥ ३७ ॥

जगतश्च यदा ध्रुवो वियोगो ननु धर्माय वरं स्वयं वियोगः।
अवशं ननु विप्रयोजयेन्मामकृतस्वार्थमतृप्तमेव मृत्युः ॥ ३८ ॥

जब कि विश्व से वियोग निश्चित है तो धर्माचरण के लिये स्वयं पृथक् हो जाना यथार्थ में उत्तम है; क्योंकि मृत्यु, स्वार्थ (मनोरथ) की पूर्ति तृप्ति (विषय संतुष्टि) के बिना ही मुझे अवश्य पृथक कर देगी ॥ ३८ ॥

इति भूमिपतिर्निशम्य तस्य व्यवसायं तनस्य निर्मुमुक्षोः।
अभिधाय न यास्यतीति भूयो विदधे रक्षणमुत्तमांश्च कामान् ॥३९॥

निर्वाण की इच्छा वाले उस आत्मज का ऐसा निश्चय सुनकर "नहीं जायगा (बालक है, यों ही कहता है)"—भूमिपति ने ऐसा कहा और पुनः विशेष रक्षा तथा उत्तम विषयों-भागों का विधान किया ॥ ३९ ॥

सचिवैस्तु निदर्शितो यथावद् बहुमानात्प्रणयाच्च शास्त्रपूर्वम्।
गुरुणा च निवारितोऽश्रुपातैः प्रविवेशावसथं ततः स शोचन् ॥४०॥

मन्त्रियों ने शास्त्रनुकूल आदर एवं प्रेमपूर्वक विधिवत् समझाया तथा पिता ने अश्रु बहाते हुए (पुत्र को) रोका। तब शोक करते हुए उसने अपने महल में प्रवेश किया ॥ ४० ॥

चलकुण्डलचुम्बिताननाभिर्घननिश्वासविकम्पितस्तनीभिः।
वनिताभिरधोरलोचनाभिर्मृगशावाभिरिवाभ्युदीक्ष्यमाणः ॥ ४१ ॥

चंचल कुण्डलों से जिनके मुख चुम्बित हैं, सान्द्र श्वासोच्छ्वावास से जिनके स्तन कांप रहे हैं, जिनकी आँखें मृगशावकों के समान हैं ऐसी युवतियों ने उसे देखा ॥ ४१ ॥

स हि काञ्चनपर्वतावदातो हृदयोन्मादकरो वराङ्गनानाम् ।
श्रवणाङ्गविलोचनात्मभावान्वचनस्पर्शवपुर्गुणैर्जहार ॥४२॥

सुमेरु पर्वत सदृश देदीप्यमान उस राजकुमार ने श्रेष्ठ युवतियों के हृदय को उन्मत्त कर दिया तथा अपने वचन, स्पर्श, शरीर एवं गुणों से क्रमशः उनके श्रवण, शरीर, लोचन तथा आत्मभाव (रूपाभिमान) हर लिये ॥ ४२॥

विगते दिवसे ततो विमानं वपुषा सूर्य इव प्रदीप्यमानः ।
तिमिरं विजिघांसुरात्मभासा रविरुद्यन्निव मेरुमारुरोह ॥४३॥

तब दिन अस्त होने पर, शरीर से सूर्य सदृश प्रकाशवान वह विमान शाला (महल के ऊपर का कमरा) पर पहुँचा मानो उदित हुआ सूर्य अपने प्रकाश से अन्धकार को नष्ट करने की इच्छा से सुमेरु पर पहुँचा हो ॥४३॥

कनकोज्ज्वलदीप्तदीपवृक्षं वरकालागुरुधूपपूर्णगर्भम् ।
अधिरुह्य स वज्रभक्तिचित्रं प्रवरं काञ्चनमासनं सिषेवे ॥४४॥

स्वर्ण सदृश उज्ज्वल एवं प्रकाशमान दीपों के वृक्ष (झाड़ फानूस) वाला उत्तम अगुरु धूप (सुगन्धि) से परिपूर्ण गर्भ (कक्ष) वाला (वह) उस चन्द्रशाला पर चढ़कर वज्र (मणि) के खण्डों से चित्रित श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठा ॥४४॥

तत उत्तममुत्तमांगनास्तं निशि तूर्यैरुपतस्थुरिन्द्रकल्पम् ।
हिमवच्छिरसीव चन्द्रगौरे द्रविणेन्द्रात्मजमप्सरोगणौघाः ॥ ४५ ॥

तब रात्रि में इन्द्र सदृश उस उत्तम (श्रेष्ठ) के पास सुन्दर युवतियाँ बाजे गाजे के साथ उपस्थित हुईं मानो चन्द्र से उज्ज्वल हिमशिखर पर धनाधिप-पुत्र के पास अप्सराओं के झुण्ड आ पहुँचे हों ॥४५॥

परमैरपि दिव्यतूर्यकल्पैः स तु तैर्नैव रतिं ययौ न हर्षम् ।
परमार्थसुखाय तस्य साधोरभिनिश्चिक्रमिषा यतो न रेमे ॥ ४६ ॥

उन स्वर्गीय बाजों के सदृश श्रेष्ठ बाजों से भी वह न तो सुखी हुआ और न प्रसन्न ही। परमार्थ सुख के लिये उस साधु की निकल भागने की इच्छा थी अतः रति नहीं हुई ॥४६॥

अथ तत्र सुरैस्तपोवरिष्ठैरकनिष्ठैर्व्यवसायमस्य बुद्ध्वा ।
युगवत्प्रमदाजनस्य निद्रा विहितासीद्विकृताश्च गात्रचेष्टाः ॥ ४७॥

तब तपस्या से श्रेष्ठ अकनिष्ठ (बड़े) देवों ने उसका निश्चित अभिप्राय जानकर वहाँ सब प्रमदाओं को एक साथ निद्रित तथा उसकी गात्रचेष्टाओं को विकृत कर दिया ॥४७॥

अभवच्छयिता हि तत्र काचिद् विनिवेश्य प्रचले करे कपोलम् ।
दयितामपि रुक्मपत्रचित्रां कुपितेवाङ्कगतां विहाय वीणाम् ॥४८॥

वहाँ कोई स्त्री, चञ्चल हथेली पर गाल रखकर, मानो कुपित होकर स्वर्ण-पत्र से मढ़ी प्रिय वीणा को गोद में ही छोड़कर सो गई थी ॥४८॥

विबभौ करलग्नवेणुरन्या स्तनविस्रस्तसितांशुका शयाना ।
ऋजुषट्पदपङ्क्तिजुष्टपद्मा जलफेनप्रहसत्तटा नदीव ॥ ४९ ॥

एक अन्य स्त्री, हाथ में बाँसुरी लिये थी उसके स्तन पर से शुभ्र वस्त्र सरक गया था, वह सोती हुई ऐसी सुन्दर लगी जैसे सीधी भ्रमरपंक्ति से सेवित दण्ड-युक्त कमलवाली, जलफेन की (उज्ज्वलता से) मानो हँस रहे तटवाली नदी हो ॥४९॥

नवपुष्करगर्भकोमलाभ्यां तपनीयोज्ज्वलसंगताङ्गदाभ्याम् ।
स्वपिति स्म तथापरा भुजाभ्यां परिरभ्य प्रियवन्मृदङ्गमेव ॥ ५०॥

एक और दूसरी, नवीन कमल के हृदय के समान कोमल सुवर्णमय उज्ज्वल एवं सुडौल अङ्गद (केयूर) वाली भुजाओं से ही प्रियतम की तरह मृदंग का ही आलिङ्गन करके सो गई ॥५०॥

नवहाटकभूषणास्तथान्या वसनं पीतमनुत्तमं वसानाः ।
अवशा घननिद्रया निपेतुर्गजभग्ना इव कर्णिकारशाखाः ॥ ५१ ॥

तद्वत्, स्वर्ण के नये भूषणों से भूषित एवं उत्तम पीले वस्त्र धारण किये कुछ अन्य स्त्रियाँ गाढ़ निद्रा के अधीन होकर, हाथी द्वारा तोड़ी गई कनेर की शाखा सदृश गिरीं ॥५१॥

अवलम्ब्य गवाक्षपार्श्वमन्या शयिता चापविभुग्नगात्रयष्टिः ।
विरराज विलम्बिचारुहारा रचिता तोरणशालभञ्जिकेव ॥ ५२॥

लम्बायमान सुन्दर हार पहिने हुए, धनुष के समान झुके कामदण्डवाली एक अन्य स्त्री गवाक्ष की बाजू के सहारे सोती हुई इस प्रकार शोभित हुई मानो तोरण (बहिर्द्वार) पर (निर्मित) कठपुतली हो ॥ ५२ ॥

मणिकुण्डलदष्टपत्रलेखं मुखपद्मं विनतं तथापरस्याः ।
शतपत्रमिवार्धवक्रनाडं स्थितकारण्डवघट्टितं चकाशे ॥ ५३ ॥

उसी तरह सोई हुई एक अन्य स्त्री का, झुका हुआ एवं मणिजटित कुण्डल से घिस गये पत्ररचनावाला मुखकमल—आधा झुका नालवाला, बैठे हुए कारण्डव (पक्षी) से संघर्षित कमल सदृश चमक रहा था ॥ ५३ ॥

अपराः शयिता यथोपविष्टाः स्तनभारैरवनम्यमानगात्राः ।
उपगुह्य परस्परं विरेजुर्भुजपाशैस्तपनीयपारिहार्यैः ॥ ५४ ॥

स्तनों के भार से नम्र गात्रवाली कुछ अन्य स्त्रियाँ स्वर्ण कंकण युक्त बाहु-पाशों से एक दूसरे को पकड़े, बैठी-बैठी सोती हुई बहुत ही सुन्दर प्रतीत हुईं ॥ ५४ ॥

महतीं परिवादिनीं च काचिद्वनितालिङ्ग्य सखीमिव प्रसुप्ता ।
विजुघूर्ण चलत्सुवर्णसूत्रा वदनेनाकुलयोक्त्रकेण ॥ ५५ ॥

चञ्चल सुवर्णसूत्र (करधनी) वाली एक कोई वनिता, बहुत बड़ी वीणा को, सखी के समान आलिङ्गन किये हुए, सोती हुई विक्षिप्त योक्त्र (प्रभा-मण्डल) युक्त मुख से मानो घूम (चक्कर खा) रही हो ॥ ५५ ॥

पणवं युवतिर्भुजांसदेशादवविस्रंसितचारुपाशमन्या ।
सविलासरतान्ततान्तमूर्वोर्विवरे कान्तमिवाभिनीय शिश्ये ॥ ५६ ॥

एक अन्य युवती, भुजा के अंस (कन्धा) प्रदेश से गिर गई डोरीवाला पणव (सारंगी) को सोन्माद रति क्रीड़ा के अन्त में शिथिल पति की तरह दोनों जांघों के बीच लेकर सोई थी ॥ ५६ ॥

अपरा बभूवुर्निमीलिताक्ष्यो विपुलाक्ष्योऽपि शुभभ्रुवोऽपि सत्यः ।
प्रतिसङ्कुचितारविन्दकोशाः सवितर्यस्तमिते यथा नलिन्यः ॥ ५७ ॥

दूसरी स्त्रियाँ विशालनयनी एवं सुन्दर भृकुटीवाली होने पर भी, आँखें

बन्द हो जाने पर, सूर्य के अस्त होने पर, चारों ओर से सिकुड़े हुए कमल कोशवाली कमलिनियों की भाँति हो गई थीं ॥ ५७ ॥

शिथिलाकुलमूर्धजा तथान्या जघनस्रस्तविभूषणांशुकान्ता ।
अशयिष्ट विकीर्णकण्ठसूत्रा गजभग्ना प्रतियातनाङ्गनेव ॥ ५८ ॥

केश शिथिल एवं विक्षिप्त हैं, जांघों पर भूषण (करधनी) तथा वस्त्र के छोर (बन्धन) सरक गये हैं, गले के हार (मणियाँ) बिखर गये हैं—ऐसी अन्य स्त्रियाँ इस प्रकार सो रही थीं जैसे हाथी द्वारा तोड़ी गई स्त्री की प्रतिमा हो ॥ ५८ ॥

अपरास्त्ववशा ह्रिया वियुक्ता धृतिमत्योऽपि वपुर्गुणैरुपेताः ।
विनिशश्वसुरुल्वणं शयाना विकृताः क्षिप्तभुजा जजृम्भिरे च ॥५९॥

अन्य स्त्रियाँ, धीरज तथा शरीर के गुणों (रूपों) से सम्पन्न होने पर भी निद्रावश होने के कारण लज्जारहित, टेढ़ी-मेढ़ी तथा भुजाओं को फैलाकर सोती हुई फूत्कार साँसें एवं जंभाइयाँ ले रही थीं ॥ ५९ ॥

व्यपविद्धविभूषणस्रजोऽन्या विसृतग्रन्थनवाससो विसंज्ञाः ।
अनिमीलितशुक्लनिश्चलाक्ष्यो न विरेजुः शयिता गतासुकल्पाः ॥६०॥

भूषण एवं मालाएँ अलग हो गये हैं, वस्त्रों की गाँठें खुल गई हैं—ऐसी कुछ अन्य स्त्रियाँ जिनके सफेद एवं निश्चल नेत्र खुले रह गए हैं, (वे) बेहोश सोती हुई शव (मुरदे) के समान शोभित नहीं हुईं ॥ ६० ॥

विवृतास्यपुटा विवृद्धगात्री प्रपतद्वक्त्रजला प्रकाशगुह्या ।
अपरा मदघूर्णितेव शिश्ये न बभासे विकृतं वपुः पुपोष ॥ ६१ ॥

अन्य एक स्त्री जिसका मुख पुट खुला था, शरीर फूला था, मुख से लार टपक रही थी, गुह्य इन्द्रियाँ दीख रही थीं, वह मतवाली की तरह सोने वाली शोभा नहीं पा रही थी (क्योंकि) उसका शरीर विकराल था ॥ ६१ ॥

इति सत्त्वकुलान्वयानुरूपं विविधं स प्रमदाजनः शयानः ।
सरसः सदृशं बभार रूपं पवनावर्जितरुग्णपुष्करस्य ॥ ६२ ॥

इस प्रकार प्रकृति, कुल एवं वंश के अनुरूप विविध प्रकार से सो रहे

उन स्त्री-जनों ने पवन से विक्षिप्त एवं मुरझाये कमल युक्त सरोवर के सदृश दृश्य उपस्थित किया ॥ ६२ ॥

समवेक्ष्य तथा तथा शयाना विकृतास्ता युवतीरधीरचेष्टाः ।
गुणवद्वपुषोऽपि वल्गुभाषा नृपसूनुः स विगर्हयांबभूव ॥ ६३ ॥

यद्यपि उनके शरीर सुन्दर थे, एवं वाणी मधुर थी, तथापि इस प्रकार से सोने के कारण उनकी आकृतियाँ विकृत एवं चेष्टाएँ चञ्चल थीं, जिन्हें देखकर उस राजसूनु ने निन्दा की ॥ ६३ ॥

अशुचिर्विकृतश्च जीवलोके वनितानामयमीदृशः स्वभावः ।
वसनाभरणैस्तु वञ्च्यमानः पुरुषः स्त्रीविषयेषु रागमेति ॥ ६४ ॥

इस संसार में वनिताओं का ऐसा विकराल तथा अपवित्र स्वभाव है तथापि वस्त्राभूषणों (कृत्रिम गुणों) से वञ्चित पुरुष, स्त्रियों के विषय में राग करता है ॥ ६४ ॥

विमृशेद्यदि योषितां मनुष्यः प्रकृतिं स्वप्नविकारमीदृशं च ।
ध्रुवमत्र न वर्धयेत्प्रमादं गुणसंकल्पहतस्तु रागमेति ॥ ६५ ॥

यदि मनुष्य स्त्रियों के ऐसे स्वभाव तथा स्वप्न-विकार का विचार करे तो यथार्थ में अपनी भूल को आगे न बढ़ने दे । किन्तु स्त्रियों में सौन्दर्य है— ऐसा संकल्प करने से ही उनमें राग करता है ॥ ६५ ॥

इति तस्य तदन्तरं विदित्वा निशि निश्चिक्रमिषा समुद्बभूव ।
अवगम्य मनस्ततोऽस्य देवैर्भवनद्वारमपावृतं बभूव ॥ ६६ ॥

इस प्रकार यह आन्तरिक रहस्य जानकर, उसकी इच्छा रात्रि में ही निकल भागने की हुई । तब उसका मानसिक भाव समझकर देवों ने द्वार खोल दिये ॥ ६६ ॥

अथ सोऽवततार हर्म्यपृष्ठाद्युवतीस्ताः शयिता विगर्हमाणः ।
अवतीर्य ततश्च निर्विशङ्को गृहकक्ष्यां प्रथमां विनिर्जगाम ॥ ६७ ॥

तब सो रही उन स्त्रियों की निन्दा करता हुआ, महल के ऊपरी भाग से वह उतरा और निःशंक वहाँ से उतर कर भवन के प्रथम कक्ष में निकला ।

तुरगावचरं स बोधयित्वा जविनं छन्दकमित्थमित्युवाच।
हयमानय कन्थकं त्वरावानमृतं प्राप्तुमितोऽद्य मे यियासा॥ ६८॥

शीघ्रगामी 'छन्दक' नामक अश्वरक्षक को जगाकर उसने ऐसा कहा—द्रुतगामी कन्थक अश्व को शीघ्र लाओ, मोक्ष पाने के लिये आज यहाँ से जाने की मेरी इच्छा है॥ ६८॥

हृदि या मम तुष्टिरद्य जाता व्यवसायश्च यथा मतौ निविष्टः।
विजनेऽपि च नाथवानिवास्मि ध्रुवमर्थोऽभिमुखः समेत इष्टः॥६९॥

आज मेरे हृदय में जो तुष्टि हुई है और बुद्धि में जिस प्रकार निश्चित धारणा जग गई है, तथा निर्जन में भी सनाथ सदृश हूँ, अतः अवश्य मेरा अभीष्टार्थ सम्मुख आ गया है॥ ६९॥

ह्रियमेव च संनतिं च हित्वा शयिता मत्प्रमुखे यथा युवत्यः।
विवृते च यथा स्वयं कपाटे नियतं यातुमतो ममाद्य कालः॥ ७०॥

लज्जा एवं सरलता को छोड़कर स्त्रियाँ जिस प्रकार हमारे सन्मुख सो गईं और जिस प्रकार दरवाजे अपने आप खुल गये, अतः निश्चय ही आज यहाँ से जाने का मेरा समय आ गया है॥ ७०॥

प्रतिगृह्य ततः स भर्तुराज्ञां विदितार्थोऽपि नरेन्द्रशासनस्य।
मनसीव परेण चोद्यमानस्तुरगस्यानयने मतिं चकार॥ ७१॥

तब नरेन्द्र के आदेश का अभिप्राय जानते हुए भी स्वामी (राजकुमार) की आज्ञा स्वीकार कर, उसने किसी से अन्य मन में प्रेरित किये जाने की तरह, अश्व लाने के लिये मन किया॥ ७१॥

अथ हेमखलीनपूर्णवक्त्रं लघुशय्यास्तरणोपगूढपृष्ठम्।
बलसत्त्वजवान्वयोपपन्नं स वराश्वं तमुपानिनाय भर्त्रे॥ ७२॥

अनन्तर 'उसने' ऐसा बल, साहस, वेग एवं वंश से सम्पन्न श्रेष्ठ घोड़ा स्वामी के लिये लाया जिसके कि मुँह में स्वर्ण की लगाम एवं पीठ पर कोमल जीन तथा झूल कसे थे॥ ७२॥

प्रततत्रिकपुच्छमूलपार्ष्णिं निभृतह्रस्वतनूजपुच्छकर्णम्।
विनतोन्नतपृष्ठकुक्षिपार्श्वं विपुलप्रोथललाटकट्युरस्कम्॥ ७३॥

उस घोड़े की रीढ़, पूँछ का मूल तथा एड़ियाँ फैली थीं, बाल पूँछ एवं कान निश्चल और छोटे थे। पीठ, पेट और बगल नतोन्नत (चढ़ाव उतार) थे एवं प्रोथ (मुखाग्र) ललाट, कटि और वक्षस्थल विशाल थे ॥ ७३ ॥

उपगुह्य स तं विशालवक्षाः कमलाभेन च सान्त्वयन् करेण।
मधुराक्षरया गिरा शशास ध्वजिनीमध्यमिव प्रवेष्टुकामः ॥७४॥

उस चौड़ी छाती वाले ने कमल सदृश कोमल हाथों से उसे स्पर्श करके मधुर अक्षरयुक्त वाणी से सम्बोधन करते हुए ऐसा आदेश दिया मानो शत्रु सेना के मध्य प्रवेश करना चाहता हो ॥ ७४ ॥

बहुशः किल शत्रवो निरस्ताः समरे त्वामधिरुह्य पार्थिवेन।
अहमप्यमृतं पदं यथावत् तुरगश्रेष्ठ लभेय तत्कुरुष्व ॥ ७५ ॥

हे तुरग श्रेष्ठ ! तुम पर चढ़कर राजा ने समर में बहुत बार शत्रुओं को जीता है। मैं भी विधिवत् मोक्षपद, जैसे पा सकूँ वैसा करो ॥ ७५ ॥

सुलभाः खलु संयुगे सहाया विषयावाप्तसुखे धनार्जने वा।
पुरुषस्य तु दुर्लभाः सहायाः पतितस्यापदि धर्मसंश्रये वा ॥ ७६ ॥

निश्चय ही संग्राम में, विषयजन्य सुख में तथा धन व्यवसाय में सहायक सुलभ होते हैं किन्तु आपत्ति में गिरने पर तथा धर्म का आश्रय लेने पर पुरुष के सहायक दुर्लभ हैं ॥ ७६ ॥

इह चैव भवन्ति ये सहायाः कलुषे कर्मणि धर्मसंश्रये वा।
अवगच्छति मे यथान्तरात्मा नियतं तेऽपि जनास्तदंशभाजः ॥७७॥

इस लोक में, पाप कर्म करने में और पुण्य कर्म का आश्रय लेने पर जो सहायक होते हैं, मेरी अन्तरात्मा जहाँ तक समझती है कि वे लोग भी उस (पाप-पुण्य) के अंश के भागीदार अवश्य होते हैं ॥ ७७ ॥

तदिदं परिगम्य धर्मयुक्तं मम निर्याणमितो जगद्धिताय।
तुरगोत्तम वेगविक्रमाभ्यां प्रयतस्वात्महिते जगद्धिते च ॥ ७८ ॥

अतः मेरा यहाँ से निकलना जगत् के हित लिये एवं धर्म-युक्त समझकर, हे तुरगश्रेष्ठ ! स्व-हित तथा जगत के हित के लिये वेग और पराक्रम से प्रयत्न करो ॥ ७८ ॥

इति सुहृदमिवानुशिष्य कृत्ये तुरगवरं नृवरो वनं यियासुः।
सितमसितगतिद्युतिर्वपुष्मान् रविरिव शारदमभ्रमारुरोह ॥ ७९॥

इस प्रकार वन जाने की इच्छा से नरश्रेष्ठ, कुमार ने उस उत्तम अश्व को कर्त्तव्य कर्म का, मित्र के समान उपदेश दिया और उज्वल गति एवं द्युतिवाला वपुष्मान् राजकुमार सफेद घोड़े पर इस प्रकार चढ़ा जैसे शरत्कालीन मेघ पर सूर्य ॥ ७९ ॥

अथ स परिहरन्निशीथचण्डं परिजनबोधकरं ध्वनिं सदश्वः।
विगतहनुरवः प्रशान्तह्रेषश्चकितविमुक्तपदक्रमो जगाम ॥ ८०॥

तब वह साधु-अश्व रात्रिकालिक भयंकर तथा परिजनों को जगानेवाली ध्वनि को रोकता हुआ, हनु के स्वर बचाता हुआ एवं हिनहिनाहट शान्त किये, चंचलता त्याग कर, डग रखता हुआ चला ॥ ८० ॥

कनकवलयभूषितप्रकोष्ठैः कमलनिभैः कमलानिव प्रविध्य।
अवनततनवस्ततोऽस्य यक्षाश्चकितगतैर्दधिरे खुरान् कराग्रैः ॥ ८१॥

तब यक्षों ने शरीर झुकाकर, स्वर्ण-कङ्कण से भूषित, चंचल गति वाले कमल के समान हाथों के अग्र भाग से उस अश्व के कमल सदृश खुरों को थाम लिये, मानों कमल बिछा रहे हों ॥ ८१ ॥

गुरुपरिघकपाटसंवृता या न सुखमपि द्विरदैरपाव्रियन्ते।
व्रजति नृपसुते गतस्वनास्ताः स्वयमभवन्विवृताः पुरः प्रतोल्यः ॥८२॥

विशाल एवं विस्तीर्ण नगर बहिर्द्वार, जो कि हाथियों से भी सरलतापूर्वक नहीं खुलते थे, वे राज कुमार के परिव्रजन (जाने) पर स्वयं शब्द रहित खुल गये ॥ ८२ ॥

पितरमभिमुखं सुतं च बालं जनमनुरक्तमनुत्तमां च लक्ष्मीम्।
कृतमतिरपहाय निर्व्यपेक्षः पितृनगरात्स ततो विनिर्जगाम ॥ ८३ ॥

दृढ़ सङ्कल्प एवं निरपेक्ष होकर वह अनुकूल पिता को, शिशु पुत्र को, अनुरक्त लोगों को एवं उत्तम लक्ष्मी को छोड़ कर उस पिता के नगर से निकल पड़ा ॥ ८३ ॥

अथ स विमलपङ्कजायताक्षः पुरमवलोक्य ननाद सिंहनादम्।
जननमरणयोरदृष्टपारो न पुरमहं कपिलाह्वयं प्रवेष्टा ॥ ८४॥

अनन्तर विमल कमल के समान विपुल नयन उसने नगर की ओर देखकर सिंहनाद करते हुए कहा—"जन्म एवं मृत्यु का अन्त देखे विना इस कपिलवस्तु नामक नगर में प्रवेश नहीं करूँगा" ॥ ८४ ॥

इति वचनमिदं निशम्य तस्य द्रविणपतेः परिषद्गणा ननन्दुः ।
प्रमुदितमनसश्च देवसंघा व्यवसितपारणमाशशंसिरेऽस्मै ॥८५॥

इस प्रकार उसकी बात सुनकर कुबेर के सभासद् प्रसन्न हुए एवं प्रफुल्लित चित्त देव-समुदाय ने उसका मनोरथ सिद्ध करने का संकल्प किया ॥ ८५ ॥

हुतवहवपुषो दिवौकसोऽन्ये व्यवसितमस्य सुदुष्करं विदित्वा ।
अकृषत तुहिने पथि प्रकाशं घनविवरप्रसृता इवेन्दुपादाः ॥८६॥

उसके अत्यन्त, दुःसाध्य एवं निश्चित अभिप्राय को जानकर, कुछ अन्य देवों ने, अग्नि रूप धारण करके उसके बर्फीले मार्ग में उसी तरह प्रकाश किया जैसे मेघों के छिद्र में प्रविष्ट होकर चन्द्रमा की किरणें ॥ ८६ ॥

हरितुरगतुरङ्गवत्तुरङ्गः स तु विचरन्मनसीव चोद्यमानः ।
अरुणपरुषतारमन्तरिक्षं स च सुबहूनि जगाम योजनानि ॥८७॥

इति श्रीअश्वघोषकृते पूर्वबुद्धचरितमहाकाव्ये
अभिनिष्क्रमणो नाम पञ्चमः सर्ग ।

सूर्य के घोड़े के समान वह घोड़ा मानो किसी के द्वारा मन में प्रेरणा पाता हुआ चला जा रहा था और वह कुमार, सूर्य की किरणों से आकाश के तारे मलिन नहीं हो पाये तब तक बहुत योजन दूर निकल गया ॥ ८७ ॥

पूर्वबुद्धचरितमहाकाव्य में अभिनिष्क्रमण नामक
पञ्चम सर्ग समाप्त हुआ ।

—:o:—

अथ षष्ठः सर्गः

छन्दक-निवर्तनः

छन्दक विसर्जन

ततो मुहूर्ताभ्युदिते जगच्चक्षुषि भास्करे ।
भार्गवस्याश्रमपदं स ददर्श नृणां वरः ॥ १ ॥

तब नरों में श्रेष्ठ उस राजकुमार ने कुछ मुहूर्त में विश्व-चक्षु भास्कर के उदित होने पर भार्गव का आश्रम देखा ॥ १ ॥

सुप्तविश्वस्तहरिणं स्वस्थस्थितविहंगमम् ।
विश्रान्त इव यद् दृष्ट्वा कृतार्थ इव चाभवत् ॥ २ ॥

हरिण, विश्वस्त (परिचित) की तरह सो रहे थे, पक्षी शान्त बैठे थे—ऐसे उस आश्रम को देखकर वह मानो कृतार्थ होकर श्रमरहित-सदृश हो गया ॥ २ ॥

स विस्मयनिवृत्त्यर्थं तपःपूजार्थमेव च ।
स्वां चानुवर्तितां रक्षन्नश्वपृष्ठादवातरत् ॥ ३ ॥

अपना अभिमान त्यागने के लिये, एवं तपस्या का आदर करने के लिए अपने आचरण की रक्षा करते हुए वह अश्व-पृष्ठ से उतरा ॥ ३ ॥

अवतीर्य च पस्पर्श निस्तीर्णमिति वाजिनम् ।
छन्दकं चाब्रवीत्प्रीतः स्नापयन्निव चक्षुषा ॥ ४ ॥

उतर कर वाजि (घोड़े) को सहराया एवं कहा—"तुमने पार कर दिया" एवं स्निग्ध दृष्टि से मानो चेतन करते हुए प्रसन्न होकर छन्दक से कहा ॥ ४ ॥

इमं तार्क्ष्योपमजवं तुरङ्गमनुगच्छता ।
दर्शिता सौम्य मद्भक्तिर्विक्रमश्चायमात्मनः ॥ ५ ॥

हे सौम्य ! गरुड़ तुल्य द्रुतगामी इस घोड़े के पीछे चलकर तुमने मुझमें भक्ति एवं अपना यह पराक्रम दिखाया ।। ५ ।।

सर्वथास्म्यन्यकार्योऽपि गृहीतो भवता हृदि ।
भर्तृस्नेहश्च यस्यायमीदृशः शक्तिरेव च ।। ६ ।।

यद्यपि मैं सर्वथा अन्य कार्य-रत हूँ किन्तु जिसकी स्वामिभक्ति तथा शक्ति भी इस प्रकार की है—ऐसे आप ने मेरे हृदय में ग्रहण (निवास) पाया है ।। ६ ।।

अस्निग्धोऽपि समर्थोऽस्ति निःसामर्थ्योऽपि भक्तिमान् ।
भक्तिमांश्चैव शक्तश्च दुर्लभस्त्वद्विधो भुवि ।। ७ ।।

भक्तिहीन आदमी भी समर्थ होता है, सामर्थ्यहीन भी भक्तिमान होता है किन्तु तुम सदृश भक्तिमान् एवं समर्थ भी पृथ्वी पर दुर्लभ हैं ।। ७ ।।

तत्प्रीतोऽस्मि तवानेन महाभागेन कर्मणा ।
यस्य ते मयि भावोऽयं फलेभ्योऽपि पराङ्मुखः ।। ८ ।।

अतः तुम्हारे इस महान् फलवान् कर्म से मैं सन्तुष्ट हूँ । मेरे प्रति तुम्हारा यह भाव फल कामना से रहित है ।। ८ ।।

को जनस्य फलस्थस्य न स्यादभिमुखो जनः ।
जनीभवति भूयिष्ठं स्वजनोऽपि विपर्यये ।। ९ ।।

फल देने में समर्थ व्यक्ति का आज्ञावशवर्ती कौन नहीं होगा ? (अर्थात् सब होते हैं) इसके विपरीत (अकिञ्चन व्यक्ति) में स्वजन भी अत्यन्त साधारण जन के समान हो जाता है ।। ९ ।।

कुलार्थं धार्यते पुत्रः पोषार्थं सेव्यते पिता ।
आशयाच्छ्लिष्यति जगन्नास्ति निष्कारणा स्वता ।। १० ।।

वंश की रक्षा करने के लिये पुत्र का पालन होता है । पोषण के लिये पिता की सेवा की जाती है । आशा से ही जगत एक दूसरे के मेल-जोल रखता है । बिना हेतु के निजपना (अपनत्व) नहीं ।। १० ।।

किमुक्त्वा बहु संक्षेपात्कृतं मे सुमहत्प्रियम् ।
निवर्तस्वाश्वमादाय संप्राप्तोऽस्मीप्सितं पदम् ।। ११ ।।

अधिक कहने से क्या लाभ ? सक्षेप में यही कहो कि तुमने मेरा महान् प्रि
किया । अश्व लेकर लौट जाओ । मैं वांछित स्थान पर आ गया हूँ ॥ ११ ॥

इत्युक्त्वा स महाबाहुरनुशंसचिकीर्षया ।
भूषणान्यवमुच्यास्मै संतप्तमनसे ददौ ॥ १२ ॥

इतना कहकर उस महाबाहु ने प्रत्युपकार करने की इच्छा से अपने स
भूषण उतारकर उस विषाद (दुःख) करने वाले को दे दिये ॥ १२ ॥

मुकुटाद् दीपकर्माणं मणिमादाय भास्वरम् ।
ब्रवन्वाक्यमिदं तस्थौ सादित्य इव मन्दरः ॥ १३ ॥

दीपक का काम करने वाली एक तेजस्वी मणि, मुकुट में से लेकर, य
वचन कहते हुए सूर्य सहित मन्दराचल के सदृश सुशोभित हुए ॥ १३ ॥

अनेन मणिना छन्द प्रणम्य बहुशो नृप.
विज्ञाप्योऽमुक्तविश्रम्भं संतापविनिवृत्तये ॥ १४ ॥

हे छन्दक ! इस मणि से राजा को बारम्बार प्रणाम करते हुए, उनके
शोक निवारण के लिये अमुक्त विश्रम्भ (जिसमें आशा न छूटी हो) ऐसा
(वक्ष्यमाण) यह सन्देश कहना ॥ १४ ॥

जरामरणनाशार्थं प्रविष्टोऽस्मि तपोवनम् ।
न खलु स्वर्गतर्षेण नास्नेहेन न मन्युना ॥ १५ ॥

यथार्थ में स्वर्ग की तृष्णा से नहीं और न वैराग्य तथा क्रोध से, (अपितु
केवल) जरा-मरण नाश के लिये ही मैं तपोवन में आया हूँ ॥ १५ ॥

तदेवमभिनिष्क्रान्तं न मां शोचितुमर्हसि ।
भूत्वापि हि चिरं श्लेषः कालेन न भविष्यति ॥ १६ ॥

अतः इस प्रकार निकलने वाले मेरे लिये शोक नहीं करना चाहिये; क्योंकि
अनन्त काल तक संयोग होने पर भी काल आने पर नहीं रहेगा ॥ १६ ॥

ध्रुवो यस्माच्च विश्लेषस्तस्मान्मोक्षाय मे मतिः ।
विप्रयोगः कथं न स्याद् भूयोऽपि स्वजनादिति ॥ १७ ॥

क्योंकि वियोग ध्रुव है अतः मोक्ष पाने का मेरा विचार है जिसमें फिर कभी स्वजनों से वियोग न हो ॥ १७ ॥

शोकत्यागाय निष्क्रान्तं न मां शोचितुमर्हसि ।
शोकहेतुषु कामेषु सक्ताः शोच्यास्तु रागिणः ॥ १८ ॥

शोक त्यागने को निकलने वाले मेरे लिये शोक करना योग्य नहीं है। शोक के कारणभूत विषयों में आसक्त रागी पुरुष ही शोचने योग्य हैं ॥ १८ ॥

अयं च किल पूर्वेषामस्माकं निश्चयः स्थिरः ।
इति दायाद्यभूतेन न शोच्योऽस्मि पथा व्रजन् ॥ १९ ॥

यह तो हमारे पूर्वजों का दृढ़ निश्चय (तप करना रूप) है अतः इस पैतृक (परम्परागत) मार्ग से चलते हुए मैं शोक करने योग्य नहीं हूँ ॥ १९ ॥

भवन्ति ह्यर्थदायादाः पुरुषस्य विपर्यये ।
पृथिव्यां धर्मदायादाः दुर्लभास्तु न सन्ति वा ॥ २० ॥

विपर्यय (बदल जाने या मर जाने) में अर्थदायाद (धन-सम्पत्ति) के उत्तराधिकारी होते हैं (किन्तु) इस पृथ्वी पर धर्मदायाद (धर्म के उत्तराधिकारी) दुर्लभ हैं अथवा नहीं ही हैं ॥ २० ॥

यदपि स्यादसमये यातो वनमसाविति ।
अकालो नास्ति धर्मस्य जीविते चञ्चले सति ॥ २१ ॥

यद्यपि यह कहा जा सकता है यह कि असमय में वन गया है, तो जीवन चञ्चल (क्षण-भंगुर) होने से धर्म का काल निर्धारित नहीं है ॥ २१ ॥

तस्मादद्यैव मे श्रेयश्चेतव्यमिति निश्चयः ।
जीविते को हि विश्रम्भो मृत्यौ प्रत्यर्थिनि स्थिते ॥ २२ ॥

अतः अभी ही (युवावस्था में) कल्याण का संग्रह करने का मैंने निश्चय किया है। मृत्यु रूप प्रतिपक्षी के रहते, जीवन में क्या विश्वास ॥ २२ ॥

एवमादि त्वया सौम्य विज्ञाप्यो वसुधाधिपः ।
प्रयतेथास्तथा चैव यथा मां न स्मरेदपि ॥ २३ ॥

हे सौम्य ! इसी प्रकार की और भी अन्य बातें तुम राजा से कहना। ऐसा प्रयत्न करना कि जिससे मेरा स्मरण भी न करें ॥ २३ ॥

अपि नैर्गुण्यमस्माकं वाच्यं नरपतौ त्वया ।
नैर्गुण्यात्त्यज्यते स्नेहः स्नेहत्यागान्न शोच्यते ॥ २४ ॥

और तुम राजा से हमारी निर्गुणता (निष्ठुरता-दोष) भी बताना। दोष कारण स्नेह छुट जाता है (तथा) स्नेहत्याग से शोक नहीं होता है ॥ २४ ॥

इति वाक्यमिदं श्रुत्वा छन्दः सन्तापविक्लवः ।
बाष्पग्रथितया वाचा प्रत्युवाच कृताञ्जलिः ॥ २५ ॥

ऐसे वचन सुनकर, संताप से व्याकुल छन्दक ने अश्रुग्रसित (गद्‌गद) वा से अञ्जलि बाँधकर उत्तर दिया ॥ २५ ॥

अनेन तव भावेन बान्धवायासदायिना ।
भर्तः सीदति मे चेतो नदीपङ्क इव द्विपः ॥ २६ ॥

हे स्वामिन् ! बन्धुओं को कष्ट देने वाले आपके इस भाव (विचार) से नदी के कीचड़ में (फँसकर) हाथी की तरह मेरा मन व्यथित हो रहा है ॥ २६ ॥

कस्य नोत्पादयेद् बाष्पं निश्चयस्तेऽयमीदृशः ।
अयोमयेऽपि हृदये किं पुनः स्नेहविक्लवे ॥ २७ ॥

आपका यह इस प्रकार का निश्चय किसके लोहमय (कठिन) हृदय में भी शोक उत्पन्न नहीं करेगा ? (फिर) स्नेहविह्वल (हृदय में) की तो बात ही क्या है ? ॥ २७ ॥

विमानशयनार्हं हि सौकुमार्यमिदं क्व च ।
खरदर्भाङ्कुरवती तपोवनमही क्व च ॥ २८ ॥

कहाँ विमान (चन्द्रशाला) की शय्या के योग्य यह कोमलसा, और कहाँ, कठोर कुश (तीक्ष्ण कुश) के अङ्कुरों वाली तपोवन की भूमि ॥ २८ ॥

श्रुत्वा तु व्यवसायं ते यदश्वोऽयं मयाहृतः ।
बलात्कारेण तन्नाथ दैवेनैवास्मि कारितः ॥ २९ ॥

हे नाथ ! आपका निश्चय सुनकर मैंने जो यह अश्व लाया, वह तो बलपूर्वक दैव के द्वारा मुझसे करवाया गया ॥ २९ ॥

कथं ह्यात्मवशो जानन् व्यवसायमिमं तव।
उपानयेयं तुरगं शोकं कपिलवास्तुनः ॥ ३० ॥

यदि मैं अपने अधीन होता तो आपका यह कर्त्तव्य-निश्चय जानता हुआ भी कपिलवस्तु के शोक–इस अश्व को कैसे लाता ॥ ३० ॥

तन्नार्हसि महाबाहो विहातुं पुत्रलालसम्।
स्निग्धं वृद्धं च राजानं सद्धर्ममिव नास्तिकः ॥ ३१ ॥

अतः हे महाबाहो ! पुत्र में उत्कण्ठित प्रेम एवं वृद्ध राजा (पिता) को आप उस प्रकार न छोड़ें जिस प्रकार कि नास्तिक सद्धर्म को छोड़ता है ॥ ३१ ॥

संवर्धनपरिश्रान्तां द्वितीयां तां च मातरम्।
देवीं नार्हसि विस्मर्तुं कृतघ्न इव सत्क्रियाम् ॥ ३२ ॥

पालन-पोषण की सेवा से शिथिल उस दूसरी देवी माता (विमाता) को आप वैसा नहीं भुलावें जैसे कृतघ्न सत्कार भुला देता है ॥ ३२ ॥

बालपुत्रां गुणवतीं कुलश्लाघ्यां पतिव्रताम्।
देवीमर्हसि न त्यक्तुं क्लीबः प्राप्तामिव श्रियम् ॥ ३३ ॥

जिसका पुत्र अभी छोटा है तथा गुणवती श्रेष्ठ कुलोद्भवा पतिव्रता देवी (यशोधरा) को वैसा नहीं छोड़ना चाहिये जैसा कि निरुद्यमी आई हुई सम्पत्ति को त्यागता है ॥ ३३ ॥

पुत्रं यशोधरं श्लाघ्यं यशोधर्मभृतां वरम्।
बालमर्हसि न त्यक्तुं व्यसनीवोत्तमं यशः ॥ ३४ ॥

यश और धर्म धारण करने वालों में श्रेष्ठ एवं प्रशंसनीय यशोधरा का यह बाल-पुत्र (राहुल) को वैसा नहीं त्यागना चाहिये जैसे व्यसनी उत्तम यश को त्यागता है ॥ ३४ ॥

अथ बन्धुं च राज्यं च त्यक्तुमेव कृता मतिः।
मां नार्हसि विभो त्यक्तुं त्वत्पादौ हि गतिर्मम ॥ ३५ ॥

यदि अपने बन्धु एवं राज्य को त्यागने का निश्चय ही किया है तो मुझे न त्यागें। आपके चरणों में ही मेरी गति है॥ ३५॥

नास्मि यातुं पुरं शक्तो दह्यमानेन चेतसा।
त्वामरण्ये परित्यज्य सुमन्त्र इव राघवम्॥ ३६॥

राघव को वन में छोड़कर सुमन्त्र की भाँति, आपको यहाँ छोड़कर संतप्त चित्त से नगर को जाने में, मैं समर्थ नहीं हूँ॥ ३६॥

किं हि वक्ष्यति मां राजा त्वद्दते नगरं गतम्।
वक्ष्याम्युचितदर्शित्वात्किं तवान्तःपुराणि वा॥ ३७॥

तुम्हारे विना नगर में जाने पर राजा क्या कहेंगे? और आप को इस यथार्थ रूप में देखने के कारण मैं अन्तःपुर (रानियों) को क्या कहूँगा॥ ३७॥

यदप्यात्थापि नैर्गुण्यं वाक्यं नरपताविति।
किं तद्वक्ष्याम्यभूतं ते निर्दोषस्य मुनेरिव॥ ३८॥

यद्यपि आपने कहा कि राजा से मेरी निर्गुणता कहना, तो भला मुनि सदृश निर्दोष आपके सम्बन्ध में अभूत (दोषरहित) असत्य कहूँगा॥ ३८॥

हृदयेन सलज्जेन जिह्वया सज्जमानया।
अहं यद्यपि वा ब्रूयां कस्तच्छ्रद्धातुमर्हति॥ ३९॥

किसी तरह सलज्ज हृदय से तथा समर्थ जीभ से यद्यपि मैं कहूँ भी, तो उस पर विश्वास कौन करेगा?॥ ३९॥

यो हि चन्द्रमसस्तैक्ष्ण्यं कथयेच्छ्रद्दधीत वा।
स दोषांस्तव दोषज्ञ कथयेच्छ्रद्दधीत वा॥ ४०॥

हे दोषज्ञ! जो चन्द्रमा की तीक्ष्णता कहे और जो उस पर विश्वास करे, वही आपके दोष कहे और उस पर विश्वास करे॥ ४०॥

सानुक्रोशस्य सततं नित्यं करुणवेदिनः।
स्निग्धत्यागो न सदृशो निवर्तस्व प्रसीद मे॥ ४१॥

सदैव दयावान् एवं नित्य करुणा के ज्ञाता आप को स्नेही का त्याग उचित नहीं। (आप) लौटें, (एवं) मुझपर प्रसन्न होवें ॥ ४१ ॥

इति शोकाभिभूतस्य श्रुत्वा छन्दस्य भाषितम्।
स्वस्थः परमया धृत्या जगाद वदतां वरः ॥ ४२ ॥

वक्ताओं में श्रेष्ठ, कुमार ने शोक-विह्वल छन्दक का ऐसा भाषण सुनकर शान्त तथा परम धैर्य से कहा—॥ ४२ ॥

मद्वियोगं प्रति च्छन्द संतापस्त्यज्यतामयम्।
नानाभावो हि नियतं पृथग्जातिषु देहिषु ॥ ४३ ॥

हे छन्दक ! मेरे वियोग-सम्बन्धी यह संताप छोड़ो। पृथक्-पृथक् जाति-(योनि) वाले देहधारियों में वियोग होना एवं नाना भाव (जन्म) होना नियत है ॥ ४३ ॥

स्वजनं यद्यपि स्नेहान्न त्यजेयमहं स्वयम्।
मृत्युरन्योन्यमवशानस्मान् संत्याजयिष्यति ॥ ४४ ॥

यद्यपि स्नेह के कारण स्वजन को स्वयं हम न छोड़ें, तो भी मृत्यु एक दिन अवश्य परवश हम लोगों से परस्पर त्याग करा देगी ॥ ४४ ॥

महत्या तृष्णया दुःखैर्गर्भेणास्मि यया धृतः।
तस्या निष्फलयत्नायाः क्वाहं मातुः क्व सा मम ॥ ४५ ॥

जिसने बड़ी तृष्णा से दुःखपूर्वक मुझे गर्भ में धारण किया, उस निष्फल प्रयत्नवाली माता का मैं (पुत्र) कहाँ ? और वह मेरी माता कहाँ ? ॥ ४५ ॥

वासवृक्षे समागम्य विगच्छन्ति यथाण्डजा।
नियतं विप्रयोगास्तस्तथा भूतसमागमः ॥ ४६ ॥

जिस प्रकार पक्षी, निवास वृक्ष पर (रात्रि में) एकत्र होकर, (प्रातः) वियुक्त (विपरीत दिशा) में हो जाते हैं; उसी प्रकार भूतों का समागम अवश्य वियोगान्त (अन्त में वियोग होने वाला) है ॥ ४६ ॥

समेत्य च यथा भूयो व्यपयान्ति बलाहकाः।
संयोगो विप्रयोगश्च तथा मे प्राणिनां मतः ॥ ४७ ॥

मेरे विचार में, जैसे बादल मिलकर फिर विलग हो जाते हैं, उसी प्र
प्राणियों का भी संयोग और वियोग होता है ॥ ४७ ॥

यस्माद्याति च लोकोऽयं विप्रलभ्य परस्परम् ।
ममत्वं न क्षमं तस्मात्स्वप्नभूते समागमे ॥ ४८ ॥

जब कि ये लोग परस्पर छल कर चले जाते हैं, अतः स्वप्नरूप समाग
में ममता योग्य नहीं ॥ ४८ ॥

सहजेन वियुज्यन्ते पर्णरागेण पादपाः ।
अन्येनान्यस्य विश्लेषः किं पुनर्न भविष्यति ॥ ४९ ॥

वृक्ष सहजात पत्तों के रंग से वियुक्त हो जाते हैं तो अन्य से अन्य
वियोग, क्या नहीं होगा ? ॥ ४९ ॥

तदेवं सति संतापं मा कार्षीः सौम्य गम्यताम् ।
लम्बते यदि तु स्नेहो गत्वापि पुनराव्रज ॥ ५० ॥

जब की ऐसी बात है (तो) हे सौम्य ! सन्ताप न करो । जाओ । य
स्नेह पकड़ता है तो जाकर भी फिर आ सकते हो ॥ ५० ॥

ब्रयाश्चास्मत्कृतापेक्षं जनं कपिलवास्तुनि ।
त्यज्यतां तद्गतः स्नेहः श्रूयतां चास्य निश्चयः ॥ ५१ ॥

कपिलवस्तु में मेरी आशा कर रहे लोगों से कहना कि तद्गत स्नेह छो
और उसका निश्चय सुनो ॥ ५१ ॥

क्षिप्रमेष्यति वा कृत्वा जन्ममृत्युक्षयं किल ।
अकृतार्थो निरारम्भो निधनं यास्यतीति वा ॥ ५२ ॥

या तो जन्म-मृत्यु का नाश करके (वह) अवश्य शीघ्र आयगा। अथवा
असफल एवं निकम्मा होकर निधन को प्राप्त होगा ॥ ५२ ॥

इति तस्य वचः श्रुत्वा कन्थकस्तुरगोत्तमः ।
जिह्वया लिलिहे पादौ बाष्पमुष्णं मुमोच च ॥ ५३ ॥

उसका यह वचन सुनकर, तुरगवर कन्थक, उसके चरणों को जीभ से
चाटने लगा और गर्म अश्रु प्रवाहित करने लगा ॥ ५३ ॥

जालिना स्वस्तिकाङ्केन चक्रमध्येन पाणिना।
आममर्श कुमारस्तं बभाषे च वयस्यवत् ॥ ५४ ॥

तब कुमार जाल, स्वस्तिक एवं चक्रचिह्न युक्त हाथ से सराहते हुए सखा सदृश बोला ॥ ५४ ॥

मुञ्च कन्थक मा बाष्पं दर्शितेयं सदश्वता।
मृष्यतां सफलः शीघ्रं श्रमस्तेऽयं भविष्यति ॥ ५५ ॥

हे कन्थक ! अश्रु-पात न करो तुमने यह श्रेष्ठ अश्व का धर्म दिखाया। सहन करो, तुम्हारा यह परिश्रम शीघ्र सफल होगा ॥ ५५ ॥

मणित्सरुं छन्दकहस्तसंस्थं ततः स धीरो निशितं गृहीत्वा।
कोशादसिं काञ्चनभक्तिचित्रं बिलादिवाशीविषमुद्बवर्ह ॥ ५६ ॥

तब उस धीर ने मणियों की बेंट वाला स्वर्णजटित पैना कृपाण, जो छन्दक के हाथ में था, लेकर म्यान से निकाला जैसे बिल से विषैला सर्प निकला हो ॥ ५६ ॥

निष्कास्य तं चोत्पलपत्रनीलं चिच्छेद चित्रं मुकुटं सकेशम्।
विकीर्यमाणांशुकमन्तरीक्षे चिक्षेप चैनं सरसीव हंसम् ॥ ५७ ॥

नील कमल के पत्तों के सदृश नील वर्ण वाला वह कृपाण निकाल कर, केश सहित विविध रंग वाले (अपने) मुकुट को काटा एवं जिसकी किरणें फैल रही थीं—ऐसे उस मुकुट को आकाश में फेंका मानो हंस को तालाब में फेंका हो ॥ ५७ ॥

पूजाभिलाषेण च बाहुमान्याद्दिवौकसस्तं जगृहुः प्रविद्धम्।
यथावदेनं दिवि देवसङ्घा दिव्यैर्विशेषैर्महयां च चक्रुः ॥ ५८ ॥

और देवताओं ने उस छिन्न-भिन्न मुकुट को अति आदर के कारण पूजा करने की अभिलाषा से ले लिया, तथा स्वर्ग में देवसंघों ने स्वर्गीय सामग्रियों से विधिवत् पूजा की ॥ ५८ ॥

मुक्त्वा त्वलङ्कारकलत्रवत्तां श्रीविप्रवासं शिरसश्च कृत्वा।
दृष्ट्वांशुकं काञ्चनहंसचिह्नं वन्यं स धीरोऽभिचकाङ्क्ष वासः ॥ ५९ ॥

पुनः अलङ्कार रूप कलत्र के स्वामीपने को त्याग कर, सिर को शो
से वियुक्त कर, काञ्चनमय हंसों से चिह्नित (अपने) वस्त्रों को देखकर
धीर ने वनवासी वस्त्र की अभिलाषा की ॥ ५९ ॥

ततो मृगव्याधवपुर्दिवौका भावं विदित्वास्य विशुद्धभावः ।
काषायवस्त्रोऽभिययौ समीपं तं शाक्यराजप्रभवोऽभ्युवाच ॥६०॥

तब पवित्र अन्तःकरण वाला (एक) देवता उसका अभिप्राय जा
कर, शिकारी के वेष में काषाय वस्त्र धारण किये, उसके पास गया । उससे
शाक्यराज के पुत्र ने कहा ॥ ६० ॥

शिवं च काषायमृषिध्वजस्ते न युज्यते हिंस्रमिदं धनुश्च ।
तत्सौम्य यद्यस्ति न सक्तिरत्र मह्यं प्रयच्छेदमिदं गृहाण ॥६१॥

हे सौम्य ! यह ऋषियों का चिह्न पवित्र गेरुआ वस्त्र के साथ, हिंसक
धनुष, तुम्हें शोभा नहीं देता है । अतः यदि इसमें ममता न हो तो यह (मेरा
शुक्ल वस्त्र) तुम लो और यह (अपना यह काषाय वस्त्र) मुझे दो ॥ ६१ ॥

व्याधोऽब्रवीत्कामद काममारादनेन विश्वास्य मृगान्निहन्मि ।
अर्थस्तु शक्रोपम यद्यनेन हन्त प्रतीच्छानय शुक्लमेतत् ॥६२॥

व्याध बोला—हे कामनाप्रद ! मैं इससे विश्वास उत्पन्न कराके समीप
जाकर यथेच्छ मृगों को मारता हूँ । हे इन्द्रकल्प ! यदि आपको इससे प्रयोजन
हो तो प्रसन्नता की बात है, लो और यह शुक्ल (अपना वस्त्र) लाओ ॥६२॥

परेण हर्षेण ततः स वन्यं जग्राह वासोऽंशुकमुत्ससर्ज ।
व्याधस्तु दिव्यं वपुरेव बिभ्रत्तच्छुक्लमादाय दिवं जगाम ॥६३॥

तब उसने परम हर्षपूर्वक वनवास योग्य (वस्त्र) ग्रहण किया और अपना
अंशुक (वस्त्र) दे दिया । व्याध भी दिव्य-शरीर धारण किये शुक्ल (वस्त्र)
लेकर स्वर्ग चला गया ॥ ६३ ॥

ततः कुमारश्च स चाश्वगोपस्तस्मिंस्तथा याति विसिस्मियाते ।
आरण्यके वाससि चैव भूयस्तस्मिन्नकार्ष्टां बहुमानमाशु ॥६४॥

तब कुमार और वह अश्वरक्षक उसके इस प्रकार जाने पर आश्चर्य

चकित हुए और फिर उस आरण्यक वस्त्र में उसने शीघ्र ही बड़ा आदर किया ॥ ६४ ॥

छन्दं ततः साश्रुमुखं विसृज्य काषायसंभृद् धृतिकीर्तिभृत्सः ।
येनाश्रमस्तेन ययौ महात्मा संध्याभ्रसंवीत इवोडुराजः ॥ ६५ ॥

तब धैर्यवान् कीर्तिमान् काषायधारी वह महात्मा, रोते हुए छन्दक को लौटाकर सायंकालिक मेघों से घिरे हुए चन्द्रमा के समान, उस मार्ग से स्वयं गया जो कि आश्रम की ओर जाता था ॥ ६५ ॥

ततस्तथा भर्तरि राज्यनिःस्पृहे तपोवनं याति विवर्णवाससि ।
भुजौ समुत्क्षिप्य ततः स वाजिभृद् भृशं विचुक्रोश पपात च क्षितौ ॥६६॥

तब राज्य से विरक्त हुआ स्वामी उस प्रकार विवर्ण वस्त्र धारण करके तपोवन को गया। तब वह अश्वरक्षक भुजा फैला-फैलाकर बहुत रोया और पृथ्वी पर गिर पड़ा ॥ ६६ ॥

विलोक्य भूयश्च रुरोद सस्वरं हयं भुजाभ्यामुपगुह्य कन्थकम् ।
ततो निराशो विलपन्मुहुर्मुहुर्ययौ शरीरेण पुरं न चेतसा ॥६७॥

और बारम्बार (पीछे) देखकर बाहुओं से कन्थक घोड़े से लिपट कर उच्च स्वर से रोया तथा बार-बार विलाप करता हुआ आशा छोड़कर वहाँ से शरीरमात्र से लौटा (किंतु) चित्त से नहीं ॥ ६७ ॥

क्वचित्प्रदध्यौ विललाप च क्वचित् क्वचित्प्रचस्खाल पपात च क्वचित ।
अतो व्रजन् भक्तिवशेन दुःखितश्चचार बह्वीरवशः पथि क्रियाः ॥६८॥

इति श्रीअश्वघोषकृते पूर्वबुद्धचरितमहाकाव्ये
छन्दकनिवर्तनो नाम षष्ठः सर्गः ।

मार्ग में जाते हुए उसने कहीं ध्यान किया, कहीं विलाप, कहीं फिसल पड़ा, कहीं गिरा। इस प्रकार भक्तिवश दुःखी परवश उसने बहुत प्रकार की क्रियाएँ कीं ॥ ६८ ॥

यह पूर्वबुद्धचरितमहाकाव्य में छन्दक-विसर्जन नामक
षष्ठसर्ग समाप्त हुआ।

—:०:—

अथ सप्तमः सर्गः

तपोवन-प्रवेश

तपोवन-प्रवेशः

ततो विसृज्याश्रुमुखं रुदन्तं छन्दं वनच्छन्दतया निरास्थः।
सर्वार्थसिद्धो वपुषाभिभूय तमाश्रमं सिद्ध इव प्रपेदे ॥ १ ॥

तब अश्रुव्याप्त मुख से रोते हुए छन्दक को विसर्जित कर वन में स्वच्छन्दता की इच्छा से निरवलम्ब 'वह' सर्वार्थसिद्ध सिद्ध के समान अपने शरीर की शोभा से आश्रम को आक्रान्त करके वहाँ पहुँचा ॥ १ ॥

स राजसूनुर्मृगराजगामी मृगाजिरं तन्मृगवत्प्रविष्टः।
लक्ष्मीवियुक्तोऽपि शरीरलक्ष्म्या चक्षूंषि सर्वाश्रमिणां जहार ॥ २ ॥

सिंहगमन उस राजपुत्र ने उस पशुओं के मैदान में मृगवत् प्रवेश किया और राज्य चिह्न के विना भी उसने अपनी शरीर-शोभा से सब आश्रम-वासियों के नेत्र आकृष्ट किये ॥ २ ॥

स्थिता हि हस्तस्थयुगास्तथैव कौतूहलाच्चक्रधराः सदाराः।
तमिन्द्रकल्पं ददृशुर्न जग्मुर्धुर्या इवार्धावनतैः शिरोभिः ॥ ३ ॥

हाथ में युग (जुए) लिए चक्रधारी (किसान) स्त्रियों सहित कौतूहल वश ज्यों के त्यों खड़े होकर, भारवाहक वृषभ के समान अर्धनामित सिरों से इन्द्रोपम उसको देखते रहे आगे नहीं बढ़े ॥ ३ ॥

विप्राश्च गत्वा बहिरिध्महेतोः प्राप्ताः समित्पुष्पपवित्रहस्ताः।
तपःप्रधानाः कृतबुद्धयोऽपि तं द्रष्टुमीयुर्न मठानभीयुः ॥ ४ ॥

और होम के इन्धन के लिए बाहर गए हुए ब्राह्मण, हाथों में पवित्र कुश और पुष्प लेकर लौटे, तपस्या ही प्रधान कार्य एवं निश्चल बुद्धि होने पर भी उसको देखने गये (किन्तु) मठों में नहीं गये ॥ ४ ॥

हृष्टाश्च केका मुमुचुर्मयूरा दृष्ट्वाम्बुदं नीलमिवोन्नमन्तः ।
शष्पाणि हित्वाभिमुखाश्च तस्थुर्मृगाश्चलाक्षा मृगचारिणश्च ॥ ५ ॥

मयूर प्रसन्न एवं उन्मत्त होकर वैसे ही केका वाणी बोलने लगे जैसे नील मेघ देखकर बोलते हैं । शष्प (कवल) छोड़कर चंचल-नेत्र मृग तथा चरवाहे संमुख खड़े हो गये ॥ ५ ॥

दृष्ट्वा तमिक्ष्वाकुकुलप्रदीपं ज्वलन्तमुद्यन्तमिवांशुमन्तम् ।
कृतेऽपि दोहे जनितप्रमोदाः प्रसुस्रुवुर्होमदुहश्च गावः ॥ ६ ॥

दोहन क्रिया हो जाने पर भी उत्पन्न हुए प्रमोद वाली होमदुहा (होमार्थ दूध वाली) मुनि गायें उदयकालीन सूर्य के समान तेजस्वी उस इक्ष्वाकु के कुल-प्रदीप (प्रकाश) को देखकर प्रस्रवित हुईं (दूध दुहाने लगीं) ॥६॥

कच्चिद्वसूनामयमष्टमः स्यात् स्यादश्विनोरन्यतरश्च्युतो वा ।
उच्चैरुच्चैरिति तत्र वाचस्तद्दर्शनाद्विस्मयजा मुनीनाम् ॥ ७ ॥

क्या यह वसुओं में से आठवाँ है अथवा अश्विनीकुमारों में से एक (स्वर्ग से) टपका (गिरा) है ? इस प्रकार वहाँ उसके दर्शन से (चकित) मुनियों के विस्मयजन्य वचन जोरों से उच्चारित हुए ॥ ७ ॥

लेखर्षभस्येव वपुर्द्वितीयं धामेव लोकस्य चराचरस्य ।
स द्योतयामास वनं हि कृत्स्नं यदृच्छया सूर्य इवावतीर्णः ॥ ८ ॥

लेखर्षभ (इन्द्र) के दूसरे शरीर के समान, चराचर विश्व के तेज के समान, एवं सहसा उतरे हुए सूर्य के समान उस (कुमार) ने सबका मन प्रकाशित किया ॥ ८ ॥

ततः स तैराश्रमिभिर्यथावदभ्यर्चितश्चोपनिमन्त्रितश्च ।
प्रत्यर्चयां धर्मभृतो बभूव स्वरेण साम्भोऽम्बुधरोपमेन ॥ ९ ॥

तब उन आश्रमवासियों के द्वारा विधिवत् पूजित एवं उपनिमन्त्रित होकर, उसने सजल जलधर सदृश (गम्भीर) वाणी से उन धर्माचार्यों की प्रत्यर्चा की ॥ ९ ॥

कीर्णं तथा पुण्यकृता जनेन स्वर्गाभिकामेन विमोक्षकामः ।
तमाश्रमं सोऽनुचचार धीरस्तपांसि चित्राणि निरीक्षमाणः ॥१०॥

मोक्षाभिलाषी धीर उस कुमार ने स्वर्गाभिलाषी पुण्यकर्मा जनों से परिपूर्ण उस आश्रम को तथा वहाँ (की जा रहीं) विविध तपस्याओं को देखते हुए विचरण किया ॥ १० ॥

तपःप्रकारांश्च नीरीक्ष्य सौम्यस्तपोवने तत्र तपोधनानाम् ।
तपस्विनं कंचिदनुव्रजन्तं तत्त्वं विजिज्ञासुरिदं बभाषे ॥११॥

उस शान्त ने वहाँ तपोवन में तपोधनों की तपस्या के प्रकार देखकर, अनुगमन करते हुए किसी तपस्वी को, तत्त्वज्ञान की इच्छा से यह कहा–॥११॥

तत्पूर्वमद्याश्रमदर्शनं मे यस्मादिमं धर्मविधिं न जाने ।
तस्माद्भवानर्हति भाषितुं मे यो निश्चयो यत्प्रति वः प्रवृत्तः ॥१२॥

मेरा यह आज प्रथम आश्रम दर्शन है जो कि मैं इस धर्म विधि को नहीं जानता हूँ । अतः आपकी जिसके प्रति यह प्रवृत्ति है और जो आपका निश्चय है— मुझे बतावें ॥ १२ ॥

ततो द्विजातिः स तपोविहारः शाक्यर्षभायर्षभविक्रमाय ।
क्रमेण तस्मै कथयांचकार तपोविशेषांस्तपसः फलं च ॥१३॥

तब उस तपोविहारी द्विजाति (ब्राह्मण) ने उस श्रेष्ठपराक्रमी शाक्य-श्रेष्ठ के लिए तपस्याओं की विशेषतायें एवं तपस्या का फल क्रम से बताये ।

अग्राम्यमन्नं सलिले प्ररूढं पर्णानि तोयं फलमूलमेव ।
यथागमं वृत्तिरियं मुनीनां भिन्नास्तु ते ते तपसां विकल्पाः॥१४॥

जल में जायमान वन्य धान्य तथा पर्ण, जल, फल, कन्द, शास्त्रानुकूल ये ही मुनियों की वृत्ति (आजीविका अथवा आहार) हैं और तपस्याओं के भिन्न भिन्न तत्तत् प्रकार हैं ॥ १४ ॥

उञ्छेन जीवन्ति खगा इवान्ये तृणानि केचिन्मृगवच्चरन्ति ।
केचिद् भुजङ्गैः सह वर्तयन्ति वल्मीकभूता वनमारुतेन ॥१५॥

कुछ दूसरे (धर्माचारी) पक्षी की तरह उञ्छ (बीने हुए धान्य) खाकर जीते हैं । कुछ मृगों की तरह तृण चरते हैं तथा कुछ तो वमीठी ही हो गये हैं जो कि भुजङ्गों के साथ वनवायु से ही जीते हैं ॥ १५ ॥

अश्मप्रयत्नार्जितवृत्तयोऽन्ये केचित्स्वदन्तापहृतान्नभक्षाः ।
कृत्वा परार्थं श्रपणं तथान्ये कुर्वन्ति कार्यं यदि शेषमस्ति ॥ १६ ॥

कुछ अन्य, पत्थर से कूट-पीसकर खाते हैं, कुछ अपने दाँतों से छिले अन्न खाते हैं, कुछ अन्य, दूसरों (अतिथियों) के लिए पकाकर यदि शेष (बचता) है तो उसीसे अपना आहार करते हैं ॥ १६ ॥

केचिज्जलक्लिन्नजटाकलापा द्विः पावकं जुह्वति मन्त्रपूर्वम् ।
मीनैः समं केचिदपो विगाह्य वसन्ति कूर्मोल्लिखितैः शरीरैः ॥ १७ ॥

कोई, जल से भींगे जटाकलापवाले मन्त्र से अग्नि में दो बार हवन करते हैं, कोई जल में प्रविष्ट होकर कछुओं से खुरचे गये शरीरों से मछलियों के साथ रहते हैं ॥ १७ ॥

एवंविधैः कालचितैस्तपोभिः परैर्दिवं यान्त्यपरैर्नृलोकम् ।
दुःखेन मार्गेण सुखं ह्युपैति सुखं हि धर्मस्य वदन्ति मूलम् ॥ १८ ॥

इस प्रकार बहुत काल में संचित श्रेष्ठ तपों से (लोग) स्वर्ग जाते हैं और निकृष्ट से मनुष्य लोक में ही जाते हैं । दुःख के मार्ग से सुख प्राप्त होता है । (लोग) सुख को ही धर्म का मूल कहते हैं ॥ १८ ॥

इत्येवमादि द्विपदेन्द्रवत्सः श्रुत्वा वचस्तस्य तपोधनस्य ।
अदृष्टतत्त्वोऽपि न संतुतोष शनैरिदं चात्मगतं बभाषे ॥ १९ ॥

यद्यपि तत्त्वज्ञान नहीं हुआ था—ऐसे उस द्विपदेन्द्रवत्स (राजपुत्र) को उस तपोधन का वचन सुनकर संतोष नहीं हुआ और उसने मन्दस्वर से स्वगत ही ऐसा कहा ॥ १९ ॥

दुःखात्मकं नैकविधं तपश्च स्वर्गप्रधानं तपसः फलं च ।
लोकाश्च सर्वे परिणामवन्तः स्वल्पे श्रमः खल्वयमाश्रमाणाम् ॥२०॥

विविध प्रकार की तपस्याएँ दुःखरूप हैं और तपस्या का प्रमुख फल स्वर्ग है तथा समस्त लोक बदलते रहने वाले हैं अतः आश्रमवासियों का यह परिश्रम सचमुच में लघुफल के लिये है ॥ २० ॥

प्रियांश्च बन्धून्विषयांश्च हित्वा ये स्वर्गहेतोर्नियमं चरन्ति ।
ते विप्रयुक्ताः खलु गन्तुकामा महत्तरं बन्धनमेव भूयः ॥ २१ ॥

जो प्रिय बान्धवों और भोगों को छोड़कर स्वर्ग के लिए नियम (तपोव्रत) का आचरण करते हैं वे (एक से) वियुक्त होकर फिर (उससे भी) भारी बन्धन में हो जाना चाहते हैं ॥ २१ ॥

कायक्लमैर्यश्च तपोऽभिधानैः प्रवृत्तिमाकाङ्क्षति कामहेतोः ।
संसारदोषानपरीक्षमाणो दुःखेन सोऽन्विच्छति दुःखमेव ॥ २२ ॥

और जो, तपस्या नामक शारीरिक क्लेशों से विषयसुख के लिए कर्म की इच्छा करता है वह संसार के दोषों (जरामरणादिकों) को न विचारता हुआ दुःख (नियम पालन) से दुःख (विषय) को ही चाहता है ॥ २२ ॥

त्रासश्च नित्यं मरणात्प्रजानां यत्नेन चेच्छन्ति पुनः प्रसूतिम् ।
सत्यां प्रवृत्तौ नियतश्च मृत्युस्तत्रैव मग्ना यत एव भीताः ॥ २३ ॥

लोग मरने से हमेशा डरते हैं और पुनर्जन्म के लिए प्रयत्न करते हैं । जन्म होने पर मृत्यु निश्चित है । अतः जिससे डरते हैं उसी में मग्न (डूबते) हैं ॥२३॥

इहार्थमेके प्रविशन्ति खेदं स्वर्गार्थमन्ये श्रममाप्नुवन्ति ।
सुखार्थमाशाकृपणोऽकृतार्थः पतत्यनर्थे खलु जीवलोकः ॥ २४ ॥

कुछ तो इस लोक के लिये कष्ट सहते हैं । दूसरे स्वर्ग के लिये परिश्रम करते हैं । वास्तव में आशा से दीन-यह जीव लोक असफल होकर सुख के लोभ से दुःख में गिरता है ॥ २४ ॥

न खल्वयं गर्हित एव यत्नो यो हीनमुत्सृज्य विशेषगामी ।
प्राज्ञैः समानेन परिश्रमेण कार्यं तु तद्यत्र पुनर्न कार्यम् ॥ २५ ॥

वास्तव में यह प्रयत्न निन्दित नहीं जो स्वल्प को छोड़कर अधिक की ओर जाता है । किन्तु विद्वानों को समान रूप से वह करना चाहिये जिसमें फिर कुछ न करना पड़े ॥ २५ ॥

शरीरपीडा तु यदीह धर्मः सुखं शरीरस्य भवत्यधर्मः ।
धर्मेण चाप्नोति सुखं परत्र तस्मादधर्मं फलतीह धर्मः ॥ २६ ॥

यदि इस लोक में शरीर-पीड़ा (दुःख-सहन रूप तप) धर्म है तो शरीर का सुख अधर्म (माना जायगा) धर्म से परलोक में (प्राणी) सुख पाता है अतः धर्म इस लोक में अधर्म रूप फल देता है ॥ २६ ॥

यतः शरीरं मनसो वशेन प्रवर्तते चापि निवर्तते च।
युक्तो दमश्चेतस एव तस्माच्चित्तादृते काष्ठसमं शरीरम् ॥ २७ ॥

जब कि मन के अधीन होकर शरीर (विषयों में) प्रवृत्त तथा निवृत्त होता है, तब चित्तका ही दमन करना उचित है। चित्त के बिना शरीर लकड़ी के सदृश है ॥ २७ ॥

आहारशुद्ध्या यदि पुण्यमिष्टं तस्मान्मृगाणामपि पुण्यमस्ति।
ये चापि बाह्याः पुरुषाः फलेभ्यो भाग्यापराधेन पराङ्मुखार्थाः ॥२८॥

यदि आहार (भोजनादि की) शुद्धि से अभीष्ट (पुण्य) होता है तब तो मृगों (तृणादि-भक्षियों) को भी (पुण्य) होता है तथा जो भाग्य के अपराध (दोष) से धन रहित हैं वे फलों (विषय-भोगों) से वञ्चित हैं (तब तो) वे भी पुण्य के भागी होंगे ॥ २८ ॥

दुःखेऽभिसंधिस्त्वथ पुण्यहेतुः सुखेऽपि कार्यो ननु सोऽभिसंधिः।
अथ प्रमाणं न सुखेऽभिसंधिर्दुःखे प्रमाणं ननु नाभिसंधिः ॥२९॥

यदि दुःख में उद्देश पुण्य का हेतु है तो सुख में भी वही उद्देश करना चाहिये। यदि सुख में उद्देश; प्रमाण नहीं है तो दुःख में भी उद्देश प्रमाण नहीं है ॥ २९ ॥

तथैव ये कर्मविशुद्धिहेतोः स्पृशन्त्यपस्तीर्थमिति प्रवृत्ताः।
तत्रापि तोषो हृदि केवलोऽयं न पावयिष्यन्ति हि पापमापः ॥३०॥

उसी प्रकार जो (मनुष्य) कर्म शुद्धि (क्षय) के लिये तीर्थ मानकर जल में स्नान करते हैं वहाँ भी उनके हृदय में यह केवल संतोष मात्र है, क्योंकि जल पाप को पवित्र नहीं कर सकता ॥ ३० ॥

स्पृष्टं हि यद्यद्गुणवद्भिरम्भस्तत्तत्पृथिव्यां यदि तीर्थमिष्टम्।
तस्माद् गुणानेव परैमि तीर्थमापस्तु निःसंशयमाप एव ॥ ३१ ॥

गुणवानों (ज्ञानवानों) के द्वारा जो-जो जल स्पर्श किया गया यदि वह जल पृथ्वी पर तीर्थ है तब तो गुणों को ही मैं तीर्थ समझता हूं (क्योंकि) जल तो निस्सन्देह जल ही है ॥ ३१ ॥

इति स्म तत्तद्बहुयुक्तियुक्तं जगाद चास्तं च ययौ विवस्वान् ।
ततो हविर्धूमविवर्णवृक्षं तपःप्रशान्तं स वनं विवेश ॥ ३२ ॥

इस प्रकार उसने युक्तियुक्त तत्तत् विचार किये तब तक सूर्य अस्त हो गया । तब उसने हवन के धुएँ से मलिन वृक्ष वाले तपस्या के प्रभाव से शान्त वन में प्रवेश किया ॥ ३२ ॥

अभ्युद्धृतप्रज्वलिताग्निहोत्रं कृताभिषेकर्षिजनावकीर्णम् ।
जाप्यस्वनाकूजितदेवकोष्ठं धर्मस्य कर्मान्तमिव प्रवृत्तम् ॥ ३३ ॥

प्रज्वलित अग्निहोत्र उठा लिये गये थे, यज्ञान्त-स्नान किये ऋषियों से व्याप्त था, जपके स्वरसे देवमन्दिर गूँज रहे थे—ऐसा वह वन धर्मकर्मान्त (कर्ममय) हो गया ॥ ३३ ॥

काश्चिन्निशास्तत्र निशाकराभः परीक्षमाणश्च तपांस्युवास ।
सर्वं परिक्षेप्य तपश्च मत्वा तस्मात्तपःक्षेत्रतलाज्जगाम ॥ ३४ ॥

शशिकान्त 'उसने' तपस्याओंकी परीक्षा करता हुआ कतिपय रात्रि तक वहीं निवास किया और संक्षिप्त में सब तप को समझ कर उस तपोभूमि से चल दिया ॥ ३४ ॥

अन्वव्रजन्नाश्रमिणस्ततस्तं तद्रूपमाहात्म्यगतैर्मनोभिः ।
देशादनार्यैरभिभूयमानान्महर्षयो धर्ममिवापयान्तम् ॥ ३५ ॥

उसके रूप और महिमा से मुग्ध आश्रमवासी वहाँ से उसके पीछे-पीछे गये जैसे अनार्यों से पराजित देश से हटते हुए धर्म के पीछे महर्षि गण जाते हैं ॥ ३५ ॥

ततो जटावल्कलचीरखेलांस्तपोधनांश्चैव स तान्ददर्श ।
तपांसि चैषामनुरुध्यमानस्तस्थौ शिवे श्रीमति वृक्षमूले ॥ ३६ ॥

तब जटा-वल्कल चीर से शोभित उन तपोधनों को उसने देखा एवं

उनकी तपस्याओं का अनुरोध (आदर) करते हुए शोभायुक्त पवित्र वृक्ष के मूल में विश्राम किया ॥ ३६ ॥

अथोपसृत्याश्रमवासिनस्तं मनुष्यवर्यं परिवार्य तस्थुः ।
वृद्धश्च तेषां बहुमानपूर्वं कलेन साम्ना गिरमित्युवाच ॥३७॥

तत्र आश्रमवासी उस मनुष्य श्रेष्ठ के निकट जाकर घेरकर खड़े हो गये। उनमें से (एक) वृद्ध ने अत्यन्त आदरपूर्वक कोमलता एवं शान्ति से यह कहा—॥३७॥

त्वय्यागते पूर्ण इवाश्रमोऽभूत्संपद्यते शून्य इव प्रयाते ।
तस्मादिमं नार्हसि तात हातुं जिजीविषोर्देहमिवेष्टमायुः ॥३८॥

आपके आने से यह आश्रम भरा सा हो गया था (एवं) जाने पर शून्य (रिक्त) सा हो रहा है। अतः हे तात ! जीवित रहने की इच्छा वाले के शरीर को आयु के समान आप इस आश्रम को न छोड़ें ॥ ३८ ॥

ब्रह्मर्षिराजर्षिसुरर्षिजुष्टः पुण्यः समीपे हिमवान् हि शैलः ।
तपांसि तान्येव तपोधनानां यत्संनिकर्षाद् बहुलीभवन्ति ॥३९॥

यहाँ निकट ही ब्रह्मर्षि, राजर्षि एवं देवर्षियों से सेवित पवित्र हिमालय पर्वत है जिसके सांनिध्य से तपस्वियों की वे ही तपस्याएँ (तेज से) विस्तीर्ण हो जाती हैं ॥ ३९ ॥

तीर्थानि पुण्यान्यभितस्तथैव सोपानभूतानि नभस्तलस्य ।
जुष्टानि धर्मात्मभिरात्मवद्भिर्देवर्षिभिश्चैव महर्षिभिश्च ॥ ४० ॥

उसी प्रकार धर्मात्माओं, आत्मवेत्ताओं, देवर्षियों एवं महर्षियों से सेवित चारों ओर पवित्र तीर्थ हैं जो कि देवलोक के सोपान-सदृश हैं ॥ ४० ॥

इतश्च भूयः क्षममुत्तरैव दिक्सेवितुं धर्मविशेषहेतोः ।
न तु क्षमं दक्षिणतो बुधेन पदं भवेदेकमपि प्रयातुम् ॥४१॥

तथा धर्म विशेष के लिये फिर उत्तर दिशा का ही सेवन करना योग्य है। विद्वान् को दक्षिण दिशा में एक पग भी जाना उचित नहीं ॥ ४१ ॥

तपोवनेऽस्मिन्नथ निष्क्रियो वा संकीर्णधर्मापतितोऽशुचिर्वा।
दृष्टस्त्वया येन न ते विवत्सा तद् ब्रूहि यावद्रुचितोऽस्तु वासः ॥४२॥

यदि आप ने इस तपोवन में किसी को निकम्मा अथवा संकुचित विचार में पड़ा हुआ या अपवित्र देखा हो जिससे कि आपकी यहाँ रहने की इच्छा नहीं रही, तो कहें और जब तक आपको रुचे तब तक ही रहें ॥ ४२ ॥

इमे हि वाञ्छन्ति तपःसहायं तपोनिधानप्रतिमं भवन्तम्।
वासस्त्वया हीन्द्रसमेन सार्धं बृहस्पतेरभ्युदयावहः स्यात् ॥४३॥

ये तपोधन, तप-पुञ्ज सदृश, आपको अपनी तपस्या का सहायक बनाना चाहते हैं। आप के साथ वास करने से उसी प्रकार अभ्युदय होगा जैसे इन्द्र के साथ बृहस्पति को हुआ था ॥ ४३ ॥

इत्येवमुक्तः स तपस्विमध्ये तपस्विमुख्येन मनीषिमुख्यः।
भवप्रणाशाय कृतप्रतिज्ञः स्वं भावमन्तर्गतमाचचक्षे ॥४४॥

तपस्वियों में से प्रमुख उस तपस्वी ने जब ऐसा कहा तब भव (जन्म) छेदनेके लिये प्रतिज्ञा करने वाला, मननशीलोंमें श्रेष्ठ, उसने हृद्गत विचार व्यक्त किया।

ऋज्वात्मनां धर्मभृतां मुनीनामिष्टातिथित्वात्स्वजनोपमानाम्।
एवं विधैर्मां प्रति भावजातैः प्रीतिः परा मे जनितश्च मानः ॥४५॥

अतिथि-प्रिय होने के कारण जिनके लिये सब, स्वजन-सदृश हैं—ऐसे सरल स्वभाव, धर्माचार्य मुनियों के द्वारा मेरे प्रति ऐसे भावों से मेरा बड़ा प्यार एवं आदर हुआ ॥ ४५ ॥

स्निग्धाभिराभिर्हृदयंगमाभिः समासतः स्नात इवास्मि वाग्भिः।
रतिश्च मे धर्मनवग्रहस्य विस्यन्दिता संप्रति भूय एव ॥४६॥

हृदयग्राही इन प्रिय वचनों से मैं संक्षेप में अभिषिक्त सदृश हो गया हूँ एवं नया धर्मग्राही होने पर भी मेरी धर्म के प्रति प्रीति (प्रेम) इस समय फिर अधिक जागृत हुई है ॥ ४६ ॥

एवं प्रवृत्तान् भवतः शरण्यानतीव संदर्शितपक्षपातान्।
यास्यामि हित्वेति ममापि दुःखं यथैव बन्धूंस्त्यजतस्तथैव ॥४७॥

इस प्रकार मेरे प्रति आकृष्ट एवं शरणागत वत्सल अत्यन्त पक्षपात (मेरे प्रति ममत्व) दिखानेवाले आप सब को छोड़ कर जाऊँगा—यह मुझे भी उतना ही दुःख है जितना (अपने) बन्धुओं को छोड़ते समय हुआ था ॥४७॥

स्वर्गाय युष्माकमयं तु धर्मो ममाभिलाषस्त्वपुनर्भवाय ।
अस्मिन्वने येन न मे विवत्सा भिन्नः प्रवृत्त्या हि निवृत्तिधर्मः ॥४८॥

आप सब का यह धर्म स्वर्ग के लिये है किन्तु मेरी अभिलाषा मोक्ष की है। इसी कारण से इस वन में रहने की मेरी इच्छा नहीं है क्योंकि प्रवृत्ति से निवृत्ति धर्म भिन्न (अन्य) है ॥ ४८ ॥

तन्नारतिर्मे न परापचारो वनादितो येन परिव्रजामि ।
धर्मे स्थिताः पूर्वयुगानुरूपे सर्वे भवन्तो हि महर्षिकल्पाः ॥४९॥

अतः यहाँ न मेरी अरुचि है और न दूसरों का अपचार (आचार दोष) जिससे कि मैं इस वन से जा रहा हूँ। आप लोग महर्षि सदृश हैं क्योंकि युगयुगान्त से प्रचलित धर्म में स्थित हैं ॥ ४९ ॥

ततो वचः सूनृतमर्थवच्च सुश्लक्ष्णमोजस्वि च गर्वितं च ।
श्रुत्वा कुमारस्य तपस्विनस्ते विशेषयुक्तं बहुमानमीयुः ॥ ५० ॥

तब वे तपस्वी कुमार के मनोहर अर्थयुक्त, सुस्निग्ध, प्रभावशाली एवं गौरवान्वित वचन सुनकर विशेषता युक्त अत्यन्त सम्मानित हुए ॥ ५० ॥

कश्चिद् द्विजस्तत्र तु भस्मशायी प्रांशुः शिखी दारवचीरवासाः ।
अपिङ्गलाक्षस्तनुदीर्घघोणः कुण्डैकहस्तो गिरमित्युवाच ॥ ५१ ॥

वहाँ कोई भस्माङ्गलेपी, दीर्घकाय, जटिल, वल्कलधारी, रक्त नयन, पतली एवं लम्बी नासिका वाले, कमण्डलु हाथ में लिये हुए द्विज यह वचन बोला—॥५१॥

धीमन्नुदारः खलु निश्चयस्ते यस्त्वं युवा जन्मनि दृष्टदोषः ।
स्वर्गापवर्गौ हि विचार्य सम्यग् यस्यापवर्गे मतिरस्ति सोऽस्ति ॥५२॥

हे प्राज्ञ ! आपका निश्चय (प्रण) सचमुच में उदार (सर्वश्रेष्ठ) है जो

कि आपने युवावस्था में ही जन्मगत दोषों को देखा क्योंकि स्वर्ग एवं अपवर्ग का सम्यक् विचार कर अपवर्ग में जिसकी मति है वही (विचारवान) है ॥ ५२॥

यज्ञैस्तपोभिर्नियमैश्च तैस्तैः स्वर्गं यियासन्ति हि रागवन्तः।
रागेण सार्धं रिपुणेव युद्ध्वा मोक्षं परीप्सन्ति तु सत्त्ववन्तः ॥५३॥

उन उन यज्ञों, तपों एवं नियमों से स्वर्ग जाना चाहते हैं—वे रागी हैं। किन्तु सत्त्ववान् (मेधावान पुरुष) शत्रु के समान राग के साथ युद्ध करके मोक्ष चाहते हैं ॥ ५३ ॥

तद्बुद्धिरेषा यदि निश्चिता ते तूर्णं भवान् गच्छतु विन्ध्यकोष्ठम्।
असौ मुनिस्तत्र वसत्यराडो यो नैष्ठिके श्रेयसि लब्धचक्षुः ॥ ५४ ॥

अतः यदि आप की यह बुद्धि निश्चित (दृढ़) है तो आप शीघ्र विन्ध्य-कोष्ठ (तत्कालीन प्रसिद्ध स्थान) जावें। वहाँ पर अराड् मुनि निवास करते हैं जिसने नैष्ठिक कल्याण में दिव्य ज्ञान पाया है ॥ ५४ ॥

तस्माद्भवाञ्छ्रोष्यति तत्त्वमार्गं सत्यां रुचौ संप्रतिपत्स्यते च।
यथा तु पश्यामि मतिस्तथैषा तस्यापि यास्यत्यवधूय बुद्धिम् ॥ ५५ ॥

आप उनसे तत्त्वमार्ग सुनेंगे एवं रुचि होने पर स्वीकार भी करेंगे। किन्तु जैसा कि मैं देखता हूँ कि आपकी ऐसी बुद्धि, उसकी बुद्धि को भी तिरस्कार कर चली जायगी ॥ ५५ ॥

स्पष्टोच्चघोणं विपुलायताक्षं ताम्राधरौष्ठं सिततीक्ष्णदंष्ट्रम्।
इदं हि वक्त्रं तनुरक्तजिह्वं ज्ञेयार्णवं पास्यति कृत्स्नमेव ॥ ५६ ॥

आपका यह मुख, जिसमें स्पष्ट एवं उन्नत नासिका है, विशाल एवं विस्तीर्ण आँखें हैं, रक्त वर्ण के अधर ओष्ठ हैं, शुक्ल एवं तीक्ष्ण दाँत हैं तथा पतली एवं लाल जीभ है, समस्त ज्ञातव्य समुद्र का पान करेगा ॥ ५६ ॥

गम्भीरता या भवतस्त्वगाधा या दीप्तता यानि च लक्षणानि।
आचार्यकं प्राप्स्यसि तत्पृथिव्यां यन्नर्षिभिः पूर्वयुगेऽप्यवाप्तम् ॥५७॥

आपकी जो अगाध गम्भीरता है और जो तेज है तथा जो लक्षण हैं—

इनसे यह प्रतीत होता है कि जो आचार्य-पद पूर्वकाल में इस पृथ्वी पर ऋषियों ने भी नहीं पाया, वह आप प्राप्त करेंगे ॥ ५७ ॥

परममिति ततो नृपात्मजस्तमृषिजनं प्रतिनन्द्य निर्ययौ ।
विधिवदनुविधाय तेऽपि तं प्रविविशुराश्रमिणस्तपोवनम् ॥ ५८ ॥

इति श्री अश्वघोषकृते पूर्वबुद्धचरितमहाकाव्ये
तपोवनप्रवेशो नाम सप्तमः सर्गः ।

तब नृपात्मज, 'अति उत्तम' ऐसा कहकर उन ऋषियों का अभिनन्दन कर, वहाँ से निकल गया । उन ऋषियों ने भी उसको विधिवत् प्रत्यभिनन्दन करके तपोवन में प्रवेश किया ॥ ५८ ॥

यह पूर्वबुद्धचरितमहाकाव्य में तपोवन-प्रवेशनामक
सप्तम सर्ग समाप्त हुआ ।

अथ अष्टमः सर्गः

अन्तःपुर-विलापः

अन्तःपुर-विलाप

ततस्तुरङ्गावचरः स दुर्मनास्तथा वनं भर्तरि निर्ममे गते।
चकार यत्नं पथि शोकनिग्रहे तथापि चैवाश्रु न तस्य चिक्षिये ॥ १॥

तदुपरान्त दुःखी चित्त वाले उस अश्व रक्षक ने, ममता छोड़कर उस प्रकार मालिक के वन चले जाने पर, रास्ते में शोक रोकने का प्रयत्न किया, तो भी उसके आँसू नहीं रुके ॥ १ ॥

यमेकरात्रेण तु भर्तुराज्ञया जगाम मार्गं सह तेन वाजिना।
इयाय भर्तुर्विरहं विचिन्तयंस्तमेव पन्थानमहोभिरष्टभिः ॥ २ ॥

(वह) जिस मार्ग से स्वामी की आज्ञा से घोड़े के साथ एक रात्रि में गया था, उसी मार्ग से स्वामी के विरह की चिन्ता करता हुआ आठ दिन में लौटा ॥ २ ॥

हयश्च सौजा विचचार कन्थकस्तताम भावेन बभूव निर्मदः।
अलङ्कृतश्चापि तथैव भूषणैरभूद्गतश्रीरिव तेन वर्जितः ॥ ३ ॥

और (वह) बलवान घोड़ा कन्थक भी (वहाँ से) चला (किन्तु) शोक भाव से मलिन एवं मदहीन हो गया था। पहिले की तरह भूषणों से अलंकृत होने पर भी मालिक के बिना शोभा शून्य था ॥ ३ ॥

निवृत्य चैवाभिमुखस्तपोवनं भृशं जिहेषे करुणं मुहुर्मुहुः।
क्षुधान्वितोऽप्यध्वनि शष्पमम्बु वा यथा पुरा नाभिननन्द नाददे ॥४॥

तथा तपोवन की ही ओर मुड़-मुड़ कर दुःख पूर्वक बारम्बार जोर जोर से हिनहिनाया। भूख प्यास लगने पर भी पूर्व सदृश घास अथवा जल न तो ग्रहण किया और न प्रसन्न हुआ ॥ ४ ॥

ततो विहीनं कपिलाह्वयं पुरं महात्मना तेन जगद्धितात्मना ।
क्रमेण तौ शून्यमिवोपजग्मतुर्दिवाकरेणेव विनाकृतं नभः ॥ ५ ॥

तब विश्वकल्याण के लिये अवतीर्ण हुए उस महात्मा से रहित मानो सूर्य से रहित आकाश की भाँति कपिलवस्तु नामक नगर के निकट क्रम से (चलते हुए) वे दोनों गये ॥ ५ ॥

सपुण्डरीकैरपि शोभितं जलैरलङ्कृतं पुष्पधरैर्नगैरपि ।
तदेव तस्योपवनं वनोपमं गतप्रहर्षैर्न रराज नागरैः ॥ ६ ॥

वही उसका उपवन, यद्यपि कमल-युक्त जलाशयों से शोभित था एवं पुष्पित वृक्षों से अलंकृत था तो भी जंगल के समान आनन्द रहित नगर-वासियों से शोभित नहीं हुआ ॥ ६ ॥

ततो भ्रमद्भिर्दिशि दीनमानसैरनुज्ज्वलैर्बाष्पहतेक्षणैर्नरैः ।
निवार्यमाणाविव तावुभौ पुरं शनैरपस्नातमिवाभिजग्मतुः ॥ ७ ॥

तब आस-पास घूमनेवाले दुःखी चित्त, मलिन, अश्रु व्याकुल नयनवाले लोगों से मानो निवारण किये जाने पर भी वे दोनों धीरे-धीरे अपस्नात (बिना स्नान के मलिन) सदृश नगर में गये ॥ ७ ॥

निशाम्य च स्रस्तशरीरगामिनौ विनागतौ शाक्यकुलर्षभेण तौ ।
मुमोच बाष्पं पथि नागरो जनः पुरा रथे दाशरथेरिवागते ॥८॥

शाक्य कुल में श्रेष्ठ के (कुमार के) बिना लौटकर, शिथिल शरीर से जाते हुए उन दोनों को देखकर नागरिकों ने मार्ग में उसी तरह आँसू बहाये जिस प्रकार पूर्वकाल में राम का रथ आने पर (वहाँ के लोगों ने आँसू बहाये थे) ॥ ८ ॥

अथ ब्रुवन्तः समुपेतमन्यवो जनाः पथि च्छन्दकमागताश्रवः ।
क्व राजपुत्रः पुरराष्ट्रनन्दनो हृतस्त्वयासाविति पृष्ठतोऽन्वयुः ॥ ९ ॥

तब जिन्हें बहुत क्रोध आ रहा था—ऐसे वे लोग आँसू बहाते हुए, रास्ते में छन्दक से यह कहते हुए उसके पीछे-पीछे गये—'पुर और राष्ट्र को आनन्द देनेवाले उस राजपुत्र को हरकर, तुमने कहाँ छोड़ दिया है?' ॥ ९ ॥

ततः स तान् भक्तिमतोऽब्रवीज्जनान्नरेन्द्रपुत्रं न परित्यजाम्यहम् ।
रुदन्नहं तेन तु निर्जने वने गृहस्थवेशश्च विसर्जिताविति ॥१०॥

तब उसने भक्ति-युक्त उन लोगों से कहा—मैंने नरेन्द्र पुत्र को नहीं छोड़ा किन्तु उसीने निर्जन वन में रोते हुए मुझको एवं (अपने) गृहस्थ वेष को त्याग दिया ॥ १० ॥

इदं वचस्तस्य निशम्य ते जनाः सुदुष्करं खल्विति निश्चयं ययुः ।
पतद्धि जहुः सलिलं न नेत्रजं मनो निनिन्दुश्च फलोत्थमात्मनः ॥ ११ ॥

वे लोग उस (अश्व वाहक) का यह वचन सुनकर इस निश्चय पर पहुँचे कि (कुमार का) यह निश्चय (उद्देश) सच में दुष्कर है। तथा (वे) नेत्र से निरन्तर बहने वाले आँसुओं को नहीं रोक सके एवं अपने ममतोन्मुख मन की निन्दा करने लगे ॥ ११ ॥

अथोचुरद्यैव विशाम तद्वनं गतः स यत्र द्विपराजविक्रमः ।
जिजीविषा नास्ति हि तेन नो विना यथेन्द्रियाणां विगमे शरीरिणाम् ॥१२॥

उन्होंने कहा—हम आज ही उस वन में जावेंगे जहाँ गजराज सदृश पराक्रमी वह (राजपुत्र) गया है। उसके बिना हम सब को जीने की इच्छा नहीं है जैसे इन्द्रियों के न रहने पर देहधारियों की (जीने की इच्छा नहीं रहती) ॥ १२ ॥

इदं पुरं तेन विवर्जितं वनं वनं च तत्तेन समन्वितं पुरम् ।
न शोभते तेन हि नो विना पुरं मरुत्वता वृत्रवधे यथा दिवम् ॥१३॥

उसके बिना यह नगर जंगल के समान है और वह जंगल जहाँ 'वह' है, नगर के समान है; क्योंकि उसके बिना हमारा यह नगर उसी तरह शोभा नहीं देता जिस तरह वृत्रासुर के वध (युद्ध) के समय इन्द्र के बिना स्वर्ग शोभा नहीं देता था ॥ १३ ॥

पुनः कुमारो विनिवृत्त इत्यथो गवाक्षमालाः प्रतिपेदिरेऽङ्गनाः ।
विविक्तपृष्ठं च निशाम्य वाजिनं पुनर्गवाक्षाणि पिधाय चुक्रुशुः ॥१४॥

तब स्त्रियाँ यह विचार कर कि 'कुमार फिर लौट आये हैं' झरोखों पर

दौड़ गई किन्तु घोड़े को खाली पीठ देखकर, झरोखे बन्द करके, रोने लगीं ॥ १४ ॥

प्रविष्टदीक्षस्तु सुतोपलब्धये व्रतेन शोकेन च खिन्नमानसः।
जजाप देवायतने नराधिपश्चकार तास्ताश्च यथाशयाः क्रियाः ॥१५॥

पुत्र के मिलने के लिए, राजा दीक्षा ग्रहण करके व्रत एवं शोक से खिन्न मन होते हुए देवालय में तत्तत्प्रकार के कर्म, जिसने जैसा बताया वैसा ही करने लगे ॥ १५ ॥

ततः स बाष्पप्रतिपूर्णलोचनस्तुरङ्गमादाय तुरङ्गमानुगः।
विवेश शोकाभिहतो नृपक्षयं युधापनीते रिपुणेव भर्तरि ॥ १६ ॥

तब अश्रुपूर्ण नेत्र वाले उस अश्व रक्षक ने शोक से व्याकुल होते हुए राजभवन में प्रवेश किया मानो योद्धा शत्रु ने उसके स्वामी का अपहरण कर लिया हो ॥ १६ ॥

विगाहमानश्च नरेन्द्रमन्दिरं विलोकयन्नश्रुवहेन चक्षुषा ।
स्वरेण पुष्टेन रुराव कन्थको जनाय दुःखं प्रतिवेदयन्निव ॥ १७ ॥

अश्रुपूर्ण नेत्रों से देखते हुए कन्थक ने राजमहल में प्रवेश किया और आर्त-स्वर से हिनहिनाया मानो लोगों से अपना दुःख निवेदन कर रहा हो ॥ १७ ॥

ततः खगाश्च क्षयमध्यगोचराः समीपबद्धास्तुरगाश्च सत्कृताः ।
हयस्य तस्य प्रतिसस्वनुः स्वनं नरेन्द्रसूनोरुपयानशङ्किनः ॥ १८ ॥

तब भवन के अन्दर रहने वाले पक्षी एवं पास में बँधे हुए सुसेवित घोड़े उस घोड़े की ध्वनि सुनकर इस आशंका से प्रतिध्वनि करने लगे मानो राजपुत्र लौट आया है ॥ १८ ॥

जनाश्च हर्षातिशयेन वञ्चिता जनाधिपान्तःपुरसंनिकर्षगाः ।
यथा हयः कन्थक एष हेषते ध्रुवं कुमारो विशतीति मेनिरे ॥१९॥

यह कन्थक घोड़ा जब कि हिनहिना रहा है, अतएव कुमार 'प्रवेश कर रहा है'—ऐसा मानकर राजा के अन्तःपुर तक जानेवाले लोग हर्षातिरेक से उचकने लगे ॥ १९ ॥

अतिप्रहर्षादथ शोकमूर्च्छिताः कुमारसंदर्शनलोललोचनाः।
गृहाद्विनिश्चक्रमुराशया स्त्रियः शरत्पयोदादिव विद्युतश्चलाः ॥ २० ॥

तब कुमार के दर्शन के लिए व्याकुल नेत्रवाली स्त्रियाँ जो शोक से विह्वल थीं अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक आशा लेकर घर से निकल पड़ीं मानो शरद ऋतु के बादल से चञ्चल बिजली (निकल आई हो) ॥ २० ॥

विलम्बकेश्यो मलिनांशुकाम्बरा निरञ्जनैर्बाष्पहतेक्षणैर्मुखैः।
स्त्रियो न रेजुर्मृजया विनाकृता दिवीव तारा रजनीक्षयारुणाः ॥२१॥

उनके बाल बिखरे थे, उत्तम साड़ियाँ मलिन थीं, आँखें बिना अञ्जन की थीं आँसुओं से मुख भींगा था। रात्रि व्यतीत होने पर आकाश में जिस प्रकार मलिन तारे शोभा नहीं पाते हैं उसी प्रकार वे स्त्रियाँ मार्जन बिना शोभा नहीं पा रही थीं ॥ २१ ॥

अरक्तताम्रैश्चरणैरनूपुरैरकुण्डलैरार्जवकन्धरैर्मुखैः ।
स्वभावपीनैर्जघनैरमेखलैरहारयोक्त्रैर्मुषितैरिव स्तनैः ॥ २२ ॥

उनके चरणों में न महावर की लालिमा थी और न नूपुर ही थे, मुख में कुण्डल नहीं थे, ग्रीवा ऋजु थी, स्वभाव से स्थूल नितम्ब पर करधनी नहीं थी एवं बिना हार तथा सूत्र के स्तन ठगे से थे ॥ २२ ॥

निरीक्ष्य ता बाष्पपरीतलोचना निराश्रयं छन्दकमश्वमेव च।
विषण्णवक्त्रा रुरुदुर्वराङ्गना वनान्तरे गाव इवर्षभोज्झिताः ॥ २३ ॥

छन्दक एवं घोड़े को खाली देखकर, वे उत्तम स्त्रियाँ आँखों से आँसू बहाती हुई दीनहीन मुख से रोने लगीं जैसे वन में बैलों से बिछुड़ी हुई गायें ॥ २३ ॥

ततः सबाष्पा महिषी महीपतेः प्रनष्टवत्सा महिषीव वत्सला।
प्रगृह्य बाहू निपपात गौतमी विलोलपर्णा कदलीव काञ्चनी ॥२४॥

तब राजा की पत्नी, जिसका बच्चा मर गया हो ऐसी भैंस के समान रोती हुई वत्सला गौतमी, भुजाएँ फैलाकर, हिलनेवाली स्वर्णमयी कदली की भाँति गिर पड़ी ॥ २४ ॥

हतत्विषोऽन्याः शिथिलांसबाहवः स्त्रियो विषादेन विचेतना इव ।
न चुक्रुशुर्नाश्रु जहुर्न शश्वसुर्न चेलुरासुर्लिखिता इव स्थिताः ॥२५॥

कुछ अन्य स्त्रियां हतप्रभ हो गईं उनके बाहु एवं कन्धे शिथिल पड़ गये, शोक के वेग से चेतना हीन की तरह हो गईं—न रोईं, न आंसू बहाये, न सांसें लीं और न चलीं (केवल) चित्रलिखित सदृश खड़ी रह गईं ॥ २५ ॥

अधीरमन्याः पतिशोकमूर्च्छिता विलोचनप्रस्रवणैर्मुखैः स्त्रियः ।
सिषिञ्चिरे प्रोषितचन्दनान् स्तनान्धराधरः प्रस्रवणैरिवोपलान् ॥२६॥

पति के शोक से मूर्छित, दूसरी स्त्रियों ने अधीर होकर, नेत्रस्रवित मुखों से चन्दन (लेप) रहित स्तनों को सींचा जैसे पर्वत (निज) स्रोतों से शिलाओं को सींचता है ॥ २६ ॥

मुखैश्च तासां नयनाम्बुताडितै रराज तद्राजनिवेशनं तदा ।
नवाम्बुकालेऽम्बुदवृष्टिताडितैः स्रवज्जलैस्तामरसैर्यथा सरः ॥ २७ ॥

उस समय उनके नयन जल से आहत मुखों से वह राजभवन ऐसा शोभित हुआ जैसे वर्षा के आगमन के समय मेघवृष्टि से आहत जलस्रावी कमलों से सरोवर शोभा पाता है ॥ २७ ॥

सुवृत्तपीनांगुलिभिर्निरन्तरैरभूषणैर्गूढसिरैर्वराङ्गनाः ।
उरांसि जघ्नुः कमलोपमैः करैः स्वपल्लवैर्वातचला लता इव ॥ २८ ॥

उन स्त्रियों ने अपने कमल सदृश हाथों से, जिनमें अङ्गुलियाँ गोल मोटी एवं सघन थीं, उनमें भूषण नहीं थे, तथा नसें ढकी थीं, छाती पीटीं, जैसे हवा से हिलनेवाली लताएँ अपने पत्तों से अपने को ही पीटती हैं ॥ २८ ॥

करप्रहारप्रचलैश्च ता बभुस्तथापि नार्यः सहितोन्नतैः स्तनैः ।
वनानिलाघूर्णितपद्मकम्पितै रथाङ्गनाम्नां मिथुनैरिवापगाः ॥ २९ ॥

हाथी के प्रहार से हिलनेवाले सान्द्र एवं उन्नत स्तनों से, वे स्त्रियाँ फिर भी शोभित हुईं जैसे वन की वायु से हिल रहे कमल पर (बैठी हुई) चक्रवाकों की जोड़ियों से नदियां शोभित होती हैं ॥ २९ ॥

यथा च वक्षांसि करैरपीडयंस्तथैव वक्षोभिरपीडयन् करान् ।
अकारयंस्तत्र परस्परं व्यथाः कराग्रवक्षांस्यबला दयालसाः ॥ ३० ॥

और (उन्होंने) जैसे हाथों से वक्षस्थलों को पीटा वैसे ही वक्षस्थलों से हाथों को भी पीड़ित किया । अबलाओं ने निर्दय होकर बाहुओं एवं छातियों को एक दूसरे के द्वारा पीड़ित किया ॥ ३० ॥

ततस्तु रोषप्रविरक्तलोचना विषादसंबन्धिकषायगद्गदम् ।
उवाच निश्वासचलत्पयोधरा विगाढशोकाश्रुधरा यशोधरा ॥ ३१ ॥

तब, जिसकी आंखें क्रोध से विशेष लाल हो गई थीं, (लम्बी) श्वाँस से पयोधर काँप रहे थे, विशेष गाढ़ शोक से आंसू झर रहे थे—(ऐसी वह) यशोधरा विषाद के सम्बन्ध से (उत्पन्न) कटुता से गद्गद वचन बोली ॥ ३१ ॥

निशि प्रसुप्तामवशां विहाय मां गतः क्व स च्छन्दक मन्मनोरथः ।
उपागते च त्वयि कन्थके च मे समं गतेषु त्रिषु कम्पते मनः ॥ ३२ ॥

हे छन्दक ! रात्रि में विवश सोती हुई मुझको छोड़कर, मेरा वह मनोरथ कहाँ गया ? एक साथ गये हुए 'तीन' में से 'दो' तुम्हारे और कन्थक के लौट आने पर 'मेरा मन' कांप रहा है ॥ ३२ ॥

अनार्यमस्निग्धममित्रकर्म मे नृशंस कृत्वा किमिहाद्य रोदिषि ।
नियच्छ बाष्पं भव तुष्टमानसो न संवदत्यश्रु च तच्च कर्म ते ॥ ३३ ॥

हे निर्दय ! हमारे (सम्बन्ध) में अशोभन क्रूर वैरीकर्म करके आज यहाँ क्यों रोते हो ? आंसू रोको, प्रसन्न चित्त हो जाओ । तुम्हारा (यह) आँसू और (वह) कर्म परस्पर मेल नहीं खाता ॥ ३३ ॥

प्रियेण वश्येन हितेन साधुना त्वया सहायेन यथार्थकारिणा ।
गतोऽर्यपुत्रो ह्यपुनर्निवृत्तये रमस्व दिष्ट्या सफलः श्रमस्तव ॥ ३४ ॥

आर्यपुत्र, तुम सदृश प्रिय वशवर्ती, हितकर, सज्जन एवं आज्ञाकारी सहायक के साथ, फिर कभी न लौटने के लिये चले गये । (अतः) आनन्द करो, भाग्य से तुम्हारा परिश्रम सफल हुआ ॥ ३४ ॥

वरं मनुष्यस्य विचक्षणो रिपुर्न मित्रमप्राज्ञमयोगपेशलम् ।
सुहृद्ब्रुवेण ह्यविपश्चिता त्वया कृतः कुलस्यास्य महाननुपप्लवः ॥३५॥

मनुष्य का पण्डित शत्रु अच्छा, किन्तु मूर्ख मित्र अच्छा नहीं—जो कि वियोग (कर देने) में कुशल हो । अपने को मित्र बताने वाले तुझ मूर्ख ने इस कुल का नाश कर दिया ॥ ३५ ॥

इमा हि शोच्या व्यवमुक्तभूषणाः प्रसक्तबाष्पाविलरक्तलोचनाः ।
स्थितेऽपि पत्यौ हिमवन्महीसमे प्रनष्टशोभा विधवा इव स्त्रियः ॥३६॥

भूषण उतार देने वाली निरन्तर अश्रुपात से मलिन एवं लाल नेत्रवाली शोचनीय ये स्त्रियाँ हिमालय एवं पृथ्वी के समान (गम्भीर क्षमाशील) पति के रहते हुए विधवाओं के सदृश हो गईं ॥ ३६ ॥

इमाश्च विक्षिप्तविटङ्कबाहवः प्रसक्तपारावतदीर्घनिस्वनाः ।
विनाकृतास्तेन सहावरोधनैर्भृशं रुदन्तीव विमानपङ्क्तयः ॥ ३७ ॥

और ये अट्टालिका श्रेणियाँ, कपोतपालिका रूप भुजाएँ फैलाकर स्थित कबूतरों के (कूजन) लम्बी स्वाँस लेती हुई, उस (पति) के बिना वियोग से रनिवासों के साथ मानो रो रही हैं ॥ ३७ ॥

अनर्थकामोऽस्य जनस्य सर्वथा तुरङ्गमोऽपि ध्रुवमेष कन्थकः ।
जहार सर्वस्वमितस्तथा हि मे जने प्रसुप्ते निशि रत्नचौरवत् ॥३८॥

निश्चय यह कन्थक तुरङ्ग भी इस (मुझ) जन का अनर्थ कामी (अनिष्ट इच्छुक) था । अतः जिस प्रकार लोगों के रात में सोते रहने पर रत्न चोर चोरी कर लेता है उसी प्रकार इसने यहां से मेरा सर्वस्व हर लिया ॥ ३८ ॥

यदा समर्थः खलु सोढुमागतानिषुप्रहारानपि किं पुनः कशाः ।
गतः कशापातभयात्कथं न्वयं श्रियं गृहीत्वा हृदयं च मे समम् ॥३९॥

जब कि आये हुये प्राणों के प्रहार को भी सहने में समर्थ है (तो) कोड़ों की तो बात क्या ? तब कोड़े के आघात के भय से यह मेरा हृदय एवं सौभाग्य को एक साथ लेकर कैसे गया ॥ ३९ ॥

अनार्यकर्मा भृशमद्य हेषते नरेन्द्रधिष्ण्यं प्रतिपूरयन्निव।
यदा तु निर्वाहयति स्म मे प्रियं तदा हि मूकस्तुरगाधमोऽभवत्॥४०॥

निन्दत कर्म करने वाला (अश्व) आज राजभवन को पूरित करते हुए की तरह हिनहिना रहा है। किन्तु जब यह तुरगाधम मेरे प्रियतम को वहन किये जा रहा था तब गूँगा हो गया था॥ ४०॥

यदि ह्यहेषिष्यत बोधयन् जनं खुरैः क्षितौ वाप्यकरिष्यत ध्वनिम्।
हनुस्वनं वाजनयिष्यदुत्तमं न चाभविष्यन्मम दुःखमीदृशम्॥४१॥

यदि (यह) लोगों को जगाने के लिए हिनहिनाता अथवा खुरों से धरती पर आवाज करता या हनु (गालों अथवा नथुनों को) खूब बजाता (फुरफुराता) तो मुझे ऐसा दुःख नहीं होता॥ ४१॥

इतीह देव्याः परिदेविताश्रयं निशम्य बाष्पग्रथिताक्षरं वचः।
अधोमुखः साश्रुकलः कृताञ्जलिः शनैरिदं छन्दक उत्तरं जगौ॥४२॥

एस प्रकार विलाप मय वचन जिसके अक्षर अश्रुओं से गुथे थे, सुनकर छन्दक ने मुख नीचे कर रोते हुए हाथ जोड़कर मन्द स्वर से उत्तर दिया॥ ४२॥

विगर्हितुं नार्हसि देवि कन्थकं न चापि रोषं मयि कर्तुमर्हसि।
अनागसौ स्वः समवेहि सर्वशो गतो नृदेवः स हि देवि देववत्॥४३॥

हे देवि! आपको कन्थक की निन्दा करना योग्य नहीं और न मुझ पर ही रोष करना चाहिये। हम दोनों को समान रूप से सर्वथा निर्दोष जानो। हे देवि! वह नरदेव, देवता के समान हो गया है॥ ४३॥

अहं हि जानन्नपि राजशासनं बलात्कृतः कैरपि दैवतैरिव।
उपानयं तूर्णमिमं तुरङ्गमं तथान्वगच्छं विगतश्रमोऽध्वनि॥४४॥

मैं राजा के आदेश को जानता हुआ भी, मानों किन्हीं देवताओं से प्रेरित होकर ही ऐसा करने को विवश हुआ। शीघ्र ही इस घोड़े को ले आया और थके बिना ही मार्ग में इसके पीछे-पीछे उसी प्रकार दौड़ता गया॥ ४४॥

व्रजन्नयं वाजिवरोऽपि नास्पृशन्महीं खुराग्रैर्विधृतैरिवान्तरा ।
तथैव दैवादिव संयताननो हनुस्वनं नाकृत नाप्यहेषत ॥ ४५ ॥

इस अश्वपुङ्गव ने भी चलते हुये (मार्ग में) खुरों के नखों से पृथ्वी का स्पर्श नहीं किया मानों बीच में ही (ऊपर ही किसी के द्वारा) थाम लिये गये हों । उसी प्रकार मानों देव से मुख बन्द कर दिया गया हो नथुनों से शब्द नहीं किया और न हिनहिनाया ॥ ४५ ॥

यतो बहिर्गच्छति पार्थिवात्मजे तदाभवद् द्वारमपावृतं स्वयम् ।
तमश्च नैशं रविणेव पाटितं ततोऽपि दैवो विधिरेष गृह्यताम् ॥ ४६ ॥

और भी, जब राजकुमार बाहर निकलने लगे तब द्वार स्वयं ही खुल गये एवं रात्रि का अन्धकार नष्ट हो गया मानो सूर्य ने फाड़ दिया हो । वहाँ भी दैवी विधान ही मानना चाहिये ॥ ४६ ॥

यदप्रमत्तोऽपि नरेन्द्रशासनाद् गृहे पुरे चैव सहस्रशो जनः ।
तदा स नाबुध्यत निद्रया हृतस्ततोऽपि दैवो विधिरेष गृह्यताम् ॥ ४७ ॥

जो सहस्रों लोग राजा के आदेश से भवन और नगर में सावधान रहने पर भी, निद्रा के वशीभूत होकर उस समय नहीं जागे वहां भी यह दैवी विधान ही जानना चाहिये ॥ ४७ ॥

यतश्च वासो वनवाससंमतं निसृष्टमस्मै समये दिवौकसा ।
दिवि प्रविद्धं मुकुटं च तद्धृतं ततोऽपि दैवो विधिरेष गृह्यताम् ॥ ४८ ॥

और क्योंकि देवता ने समय पर इसके लिये वनवास योग्य वस्त्र दिया एवं आकाश में फेंका गया वह मुकुट किसीके द्वारा पकड़ा गया वहां भी दैवी विधान ही समझना चाहिये ॥ ४८ ॥

तदेवमात्वां नरदेवि दोषतो न तत्प्रयातं प्रति गन्तुमर्हसि ।
न कामकारो मम नास्य वाजिनः कृतानुयात्रः स हि दैवतैर्गतः ॥ ४९ ॥

अतः हे नर देवि ! इनके जाने के प्रति हम दोनों का दोष नहीं समझना चाहिये । न मेरी इच्छा से (यह) कार्य हुआ और न इस घोड़े की इच्छा से । वह तो देवताओं की प्रेरणा से ही गया ॥ ४९ ॥

इति प्रयाणं बहुदेवमद्भुतं निशम्य तास्तस्य महात्मनः स्त्रियः।
प्रनष्टशोका इव विस्मयं ययुर्मनोज्वरं प्रव्रजनात्तु लेभिरे ॥ ५० ॥

इस प्रकार वे स्त्रियाँ उस महात्मा का अनेक देवताओं से प्रेरित एवं अद्भुत प्रयाण सुनकर विस्मित हुईं, मानों उनका शोक नष्ट हो गया। किन्तु उसके संन्यास ग्रहण से मन में सन्तप्त हुईं ॥ ५० ॥

विषादपारिप्लवलोचना ततः प्रनष्टपोता कुररीव दुःखिता।
विहाय धैर्यं विरुराव गौतमी तताम चैवाश्रुमुखी जगाद च ॥ ५१ ॥

जिसका बच्चा नष्ट हो गया हो ऐसी कुररी के समान शोक से विह्वल नेत्रवाली अश्रुमुखी गौतमी धैर्य छोड़कर विलाप करते-करते मूर्छित हुई फिर बोली ॥ ५१ ॥

महोर्मिमन्तो मृदवोऽसिताः शुभाः पृथक्पृथङ्मूलरुहाः समुद्गताः।
प्रवेरितास्ते भुवि तस्य मूर्धजा नरेन्द्रमौलीपरिवेष्टनक्षमाः ॥५२॥

अधिक लहरीदार (घुँघराले), कोमल काले, कल्याणमय तथा अलग अलग मूल से ऊगे उन्नत उसके बाल, जो राजमुकुट को बाँधने योग्य थे, वे क्या पृथ्वी पर गिरा दिये गये ॥ ५२ ॥

प्रलम्बबाहुर्मृगराजविक्रमो महर्षभाक्षः कनकोज्ज्वलद्युतिः।
विशालवक्षा घनदुन्दुभिस्वनस्तथाविधोऽप्याश्रमवासमर्हति ॥५३॥

क्या उस प्रकार का (राजकुमार) भी आश्रमवास के योग्य है!— जिसके बाहु लम्बे हैं, जिसकी गति सिंह सदृश है, जिसके नेत्र विशाल वृषभ सदृश हैं, जिसकी द्युति स्वर्ण जैसी उज्ज्वल है, वक्षस्थल विशाल है एवं मेघ तथा नगाड़े के समान ध्वनि है ॥ ५३ ॥

अभागिनी नूनमियं वसुन्धरा तमार्यकर्माणमनुत्तमं पतिम्।
गतस्ततोऽसौ गुणवान् हि तादृशो नृपः प्रजाभाग्यगुणैः प्रसूयते ॥५४॥

निश्चय ही वह श्रेष्ठकर्मा अनुपम पति, इस वसुन्धरा के भाग्य में नहीं था तभी तो वह चला गया। वैसा गुणवान् राजा, प्रजाओं के भाग्य से ही जन्म लेता है ॥ ५४ ॥

सुजातजालावततांगुली मृदू निगूढगुल्फौ बिसपुष्पकोमलौ ।
वनान्तभूमिं कठिनां कथं नु तौ सचक्रमध्यौ चरणौ गमिष्यतः ॥५५॥

उनके वे दोनों कोमल चरण—जिनमें अंगुलियाँ शुभ रेखाओं से व्यक्त हैं, जिनमें गाँठें हैं, जो बिस (मुरार) एवं पुष्पवत् कोमल हैं, जिसके मध्य में चक्र चिन्ह है—कठिन वनभूमि में कैसे चलेंगे ॥ ५५ ॥

विमानपृष्ठे शयनासनोचितं महार्हवस्त्रागुरुचन्दनार्चितम् ।
कथं नु शीतोष्णजलागमेषु तच्छरीरमोजस्वि वने भविष्यति ॥५६॥

(उसका) देदीप्यमान् शरीर—जो अटारी पर के शय्या सिंहासन के योग्य है और बहुमूल्य वस्त्र धूप चन्दन से सेवित है, भला ठंड, गर्मी एवं वर्षा में वन में कैसे रहेगा ॥ ५६ ॥

कुलेन सत्त्वेन बलेन वर्चसा श्रुतेन लक्ष्म्या वयसा च गर्वितः ।
प्रदातुमेवाभ्युचितो न याचितुं कथं स भिक्षां परतश्चरिष्यति ॥५७॥

कुल, पराक्रम, बल, तेज, विद्या, शोभा (सम्पत्ति) एवं अवस्था गौरवान्वित है तथा दूसरों को देने के योग्य है, याचना करने के योग्य नहीं है—वह भला दूसरों से भिक्षा कैसे माँगेगा ॥ ५७ ॥

शुचौ शयित्वा शयने हिरण्मये प्रबोध्यमानो निशि तूर्यनिस्वनैः ।
कथं बत स्वप्स्यति सोऽद्य मे व्रती पटैकदेशान्तरिते महीतले ॥५८॥

जो वह पवित्र स्वर्णमयी शय्या पर सोकर निशान्त में तूर्य (सहनाई) के स्वरों से जगाया जाता था, भला वह मेरा व्रती, वस्त्र के एक छोर से बिछी पृथ्वी पर कैसे सोयेगा ॥ ५८ ॥

इमं प्रलापं करुणं निशम्य ता भुजैः परिष्वज्य परस्परं स्त्रियः ।
विलोचनेभ्यः सलिलानि तत्यजुर्मधूनि पुष्पेभ्य इवेरिता लताः ॥५९॥

वे स्त्रियाँ यह आर्तवाद सुनकर भुजाओं से एक दूसरी को लिपटाकर, आंखों में आँसू बहाने लगीं मानो कम्पित लताएँ फूलों से रस बहती हों ॥५९॥

ततो धरायामपतद्यशोधरा विचक्रवाकेव रथाङ्गसाह्वया ।
शनैश्च तत्तद्विललाप विक्लवा मुहुर्मुहुर्गद्गदरुद्धया गिरा ॥६०॥

तत्र यशोधरा चक्रवाक से वियुक्त चक्रवाकी के समान पृथ्वी पर गिर पड़ी और विकल होती हुई गद्गद् अवरुद्ध वाणी से मन्द स्वर में तत्तत्प्रकार से बारम्बार विलाप करने लगी ॥ ६० ॥

स मामनाथां सहधर्मचारिणीमपास्य धर्मं यदि कर्तुमिच्छति ।
कुतोऽस्य धर्मः सहधर्मचारिणीं विना तपो यः परिभोक्तुमिच्छति ॥६१॥

यदि वे मुझ अनाथा सह धर्मचारिणी को छोड़कर धर्म करना चाहते हैं तो उन्हें कहाँ से धर्म होगा जो कि सह धर्मचारिणी के बिना ही तपस्या करना चाहते हैं ॥ ६१ ॥

शृणोति नूनं स न पूर्वपार्थिवान्महासुदर्शप्रभृतीन् पितामहान् ।
वनानि पत्नीसहितानुपेयुषस्तथा हि धर्मं मदृते चिकीर्षति ॥ ६२ ॥

उन्होंने निश्चय ही पूर्ववर्ती राजाओं व सुदर्श प्रभृति अपने पितामहों के सम्बन्ध में नहीं सुना है जो अपनी पत्नियों के साथ ही वन गये थे। तभी तो मेरे बिना धर्म करना चाहते हैं ॥ ६२ ॥

मुखेषु वा वेदविधानसंस्कृतौ न दंपती पश्यति दीक्षितावुभौ ।
समं बुभुक्षू परतोऽपि तत्फलं ततोऽस्य जातो मयि धर्ममत्सरः ॥६३॥

और यज्ञों में वेद विधान से संशुद्ध, एवं दीक्षित दोनों दम्पती (इतिहास वर्णित) को नहीं देखते हैं जो परलोक में भी यज्ञफल को साथ ही भोगना चाहते हैं। इसीलिये इनका मुझमें धर्म द्वेष हो गया है ॥ ६३ ॥

ध्रुवं स जानन्मम धर्मवल्लभो मनः प्रियेर्ष्याकलहं मुहुर्मिथः ।
सुखं विभीर्मामपहाय रोषणां महेन्द्रलोकेऽप्सरसो जिघृक्षति ॥६४॥

निश्चित ही वह धर्म प्रेमी, मेरे मन को बारम्बार एवं अत्यन्त ईर्ष्यालु तथा कलह प्रिय जानकर सुखाभाव के भय से मुझ कोपना को छोड़कर स्वर्ग में अप्सराओं को पाना चाहते हैं ॥ ६४ ॥

इयं तु चिन्ता मम कीदृशं तु ता वपुर्गुणं बिभ्रति तत्र योषितः ।
वने यदर्थं स तपांसि तप्यते श्रियं च हित्वा मम भक्तिमेव च ॥६५॥

मुझे तो यही चिन्ता है कि वहाँ वे स्त्रियाँ कितना उत्तम रूप धारण

करती हैं कि जिसके लिये मेरी सेवा एवं राज्यलक्ष्मी को छोड़कर वन में वह तपस्या करते हैं ॥ ६५ ॥

न खल्वियं स्वर्गसुखाय मे स्पृहा न तज्जनस्यात्मवतोपि दुर्लभम् ।
स तु प्रियो मामिह वा परत्र वा कथं न जह्यादिति मे मनोरथः ॥६६॥

स्वर्ग सुख की मेरी बिलकुल इच्छा नहीं है, क्योंकि जितेन्द्रिय (व्यक्ति) के लिये वह सुख दुर्लभ नहीं। मेरा यही एक मनोरथ है कि वह प्रियतम, मुझे इस लोक अथवा परलोक में किसी तरह भी न भूले ॥ ६६ ॥

अभागिनीं यद्यहमायतेक्षणं शुचिस्मितं भर्तुरुदीक्षितुं मुखम् ।
न मन्दभाग्योऽर्हति राहुलोऽप्ययं कदाचिदङ्के परिवर्तितुं पितुः ॥६७॥

यदि स्वामी के वह विशाल नयन एवं मन्द मुसकान युक्त मुख देखने के लिये मेरा भाग्य नहीं है, तो क्या मन्द भाग्य यह राहुल भी पिता की गोद में कभी लौटने के योग्य नहीं है ॥ ६७ ॥

अहो नृशंसं सुकुमारवर्चसः सुदारुणं तस्य मनस्विनो मनः ।
कलप्रलापं द्विषतोऽपि हर्षणं शिशुं सुतं यस्त्यजतीदृशं बत ॥६८॥

अहो ! उस मनस्वी का स्वरूप तो सुकुमार है, किन्तु मन निर्दय एवं कठोर है जो कि शत्रु को भी हर्षा देनेवाला - तुतलाते हुए ऐसे बाल-पुत्र को वह छोड़ रहे हैं ॥ ६८ ॥

ममापि कामं हृदयं सुदारुणं शिलामयं वाप्ययसोऽपि वा कृतम् ।
अनाथवच्छ्रीरहिते सुखोचिते वनं गते भर्तरि यन्न दीर्यते ॥६९॥

मेरा भी हृदय निश्चय कठोर है जो कि पत्थर अथवा लोहे का बना है तथा सुख योग्य स्वामी के अनाथ के समान शोभा रहित होकर वन जाने पर विदीर्ण नहीं हो रहा है ॥ ६९ ॥

इतीह देवी पतिशोकमूर्च्छिता रुरोद दध्यौ विललाप चासकृत् ।
स्वभावधीरापि हि सा सती शुचा धृतिं न सस्मार चकार नो ह्रियम् ॥७०॥

इस तरह यहाँ पर पति के शोक से मूर्छित देवी ने बारम्बार रोदन, ध्यान, तथा विलाप किया। स्वभाव से गम्भीर होने पर भी उस सती ने शोक के कारण धैर्य का स्मरण एवं लज्जा नहीं रखी ॥ ७० ॥

ततस्तथा शोकविलापविक्लवां यशोधरां प्रेक्ष्य वसुन्धरागताम् ।
महारविन्दैरिव वृष्टिताडितैर्मुखैः सबाष्पैर्वनिता विचुक्रुशुः ॥७१॥

तब उस तरह शोक व विलाप से विकल होकर (छत से) पृथ्वी पर आई हुई यशोधरा को देखकर, वर्षा से आहत बड़े कमलों के समान मुखों से आँसू बहाती हुई स्त्रियाँ चिल्लाने लगीं ॥ ७१ ॥

समाप्तजाप्यः कृतहोममङ्गलो नृपस्तु देवायतनाद्विनिर्ययौ ।
जनस्य तेनार्तरवेण चाहतश्चचाल वज्रध्वनिनेव वारणः ॥७२॥

जप समाप्त कर, मांगलिक हवन करके राजा, देव मन्दिरसे निकले और लोगों के उस आर्तनाद से आहत होकर विचलित हो गए जिस प्रकार वज्र की ध्वनि से हाथी विचलित होता है ॥ ७२ ॥

निशाम्य च च्छन्दककन्थकावुभौ सुतस्य संश्रुत्य च निश्चयं स्थिरम् ।
पपात शोकाभिहतो महीपतिः शचीपतेर्वृत्त इवोत्सवे ध्वजः ॥७३॥

छन्दक एवं कन्थक को देखकर तथा पुत्र का दृढ़ निश्चय सुनकर, महीपति शोकसे व्याकुल हो गया और पृथ्वी पर वैसे ही गिरा जैसे उत्सव समाप्त होने पर देवराज का ध्वज उतर जाता है ॥ ७३ ॥

ततो मुहूर्तं सुतशोकमोहितो जनेन तुल्याभिजनेन धारितः ।
निरीक्ष्य दृष्ट्या जलपूर्णया हयं महीतलस्थो विललाप पार्थिवः ॥७४॥

जब पुत्र शोक में कुछ क्षण तक बेहोश हो गया तब योग्य परिवार के लोगों ने पकड़ा । (होश में आने पर) पृथ्वी पर लेटे ही अश्रुपूर्ण दृष्टि से घोड़े को देखते हुए पार्थिव ने विलाप किया ॥ ७४ ॥

बहूनि कृत्वा समरे प्रियाणि मे महत्त्वया कन्थक विप्रियं कृतम् ।
गुणप्रियो येन वने स मे प्रियः प्रियोऽपि सन्नप्रियवत्प्रवेरितः ॥७५॥

हे कन्थक ! समर में तुमने मेरे अनेक प्रिय करके, यह बहुत बड़ा अप्रिय किया जो कि गुणप्रिय मेरे उस प्रिय को, प्रिय होने पर भी अप्रिय के समान वन में फेंक दिया ॥ ७५ ॥

तदद्य मां वा नय तत्र यत्र स व्रज द्रुतं वा पुनरेनमानय ।
ऋते हि तस्मान्मम नास्तिजीवितं विगाढरोगस्य सदौषधादिव ॥७६॥

अतः या तो आज मुझे वहाँ ले चलो, जहाँ वह है, अथवा (तुम ही) शीघ्र जाओ। उसको फिर ले आओ। उसके बिना मेरा जीवन नहीं रहेगा—जिस प्रकार रोगग्रस्त प्राणी अच्छी ओषधि के बिना जी नहीं सकता ॥ ७६ ॥

सुवर्णनिष्ठीविनि मृत्युना हृते सुदुष्करं यन्न ममार सञ्जयः ।
अहं पुनर्धर्मरतौ सुते गते मुमुक्षुरात्मानमनात्मवानिव ॥७७॥

सुवर्णनिष्ठीवी (एक बालक) का मृत्यु के द्वारा हरे (मर) जाने पर सञ्जय पिता जो नहीं मरा (वह) कठिन कर्म हुआ। किन्तु मैं तो धर्मरत पुत्र के चले जाने पर अयोगी की तरह प्राण छोड़ना चाहता हूँ ॥ ७७ ॥

विभोर्दशक्षत्रकृतः प्रजापतेः परापरज्ञस्य विवस्वदात्मनः ।
प्रियेण पुत्रेण सता विनाकृतं कथं न मुह्येद्धि मनो मनोरपि ॥७८॥

व्यापक एवं दस क्षत्रियों के (राष्ट्रों के) निर्माता, अतीत अनागत के ज्ञाता विवस्वान् के पुत्र प्रजापति मनु का भी मन प्रिय पुत्र के वियोग से क्यों न मूर्छित हो ॥ ७८ ॥

अजस्य राज्ञस्तनयाय धीमते नराधिपायेन्द्रसखाय मे स्पृहा ।
गते वनं यस्तनये दिवं गतो न मोघबाष्पः कृपणं जिजीव ह ॥७९॥

राजा अज के बुद्धिमान पुत्र इन्द्र के सखा नरपति (दशरथ) से मेरी ईर्ष्या है जो पुत्र के वन जाने पर स्वर्ग चले गये तथा व्यर्थ रोते हुए दीन होकर जीवित नहीं रहे ॥ ७९ ॥

प्रचक्ष्व मे भद्र तदाश्रमाजिरं हृतस्त्वया यत्र स मे जलाञ्जलिः ।
इमे परीप्सन्ति हि तं पिपासवो ममासवः प्रेतगतिं यियासवः ॥८०॥

हे भद्र ! मुझे वह आश्रम स्थल बताओ जहाँ, मुझे जलाञ्जलि देनेवाले को तुम पहुँचा आये हो। क्योंकि मरने की इच्छा वाले मेरे प्राण उसको पाने के इच्छुक हैं ॥ ८० ॥

इति तनयवियोगजातदुःखः क्षितिसदृशं सहजं विहाय धैर्यम् ।
दशरथ इव रामशोकवश्यो बहु विललाप नृपो विसंज्ञकल्पः ॥८१॥

इस तरह राजा ने पुत्र के वियोग में उत्पन्न दुःख से दुःखित होकर, पृथ्वी के समान स्वाभाविक धैर्य को छोड़कर, रामशोक के वशीभूत दशरथ के समान चेतना शून्य सदृश होकर बहुत विलाप किया ॥ ८१ ॥

श्रुतविनयगुणान्वितस्ततस्तं मतिसचिवः प्रवयाः पुरोहितश्च ।
समधृतमिदमूचतुर्यथावन्न च परितप्तमुखौ न चाप्यशोकौ ॥८२॥

तब शास्त्र, विनय एवं गुणों से युक्त मतिवाले, सचिव (सलाहदाता मन्त्री) तथा वृद्ध पुरोहित जो न सन्तप्त मुख (सन्ताप युक्त) थे और न शोच रहित थे (वे दोनों), लोगों द्वारा थामे हुए राजा को यथोचित (समयानुसार) ऐसा बोले ॥ ८२ ॥

त्यज नरवर शोकमेहि धैर्यं कुधृतिरिवार्हसि धीर नाश्रु मोक्तुम् ।
स्रजमिव मृदितामपास्य लक्ष्मीं भुवि बहवो हि नृपा वनान्यतीयुः ॥८३॥

हे नरवर! शोक छोड़िये, धैर्य धारण कीजिए। हे धीर! कुत्सित (बनावटी) धीर के समान (आपको) अश्रु नहीं बहाना चाहिये। इस पृथ्वी पर बहुत से राजा लोग मसली हुई (मुरझाई) माला के सदृश राज्य को छोड़कर वन चले गये हैं ॥ ८३ ॥

अपि च नियत एष तस्य भावः स्मर वचनं तदृषेः पुरासितस्य ।
न हि स दिवि न चक्रवर्तिराज्ये क्षणमपि वासयितुं सुखेन शक्यः ॥८४॥

और भी उसका यह भाव (होना) अवश्यम्भावी था। पूर्व में कहा हुआ, उस असित ऋषि का वचन स्मरण करो। न स्वर्ग में और न चक्रवर्ती राज्य में क्षण भर के लिए भी वह सुख से रखा जा सकता ॥ ८४ ॥

यदि तु नृवर कार्य एव यत्नस्त्वरितमुदाहर यावदत्र यावः ।
बहुविधमिह युद्धमस्तु तावत्तव तनयस्य विधेश्च तस्य तस्य ॥८५॥

हे नरवर! यदि यत्न ही करना है तो कहिये, हम वहाँ शीघ्र जावें एवं आप के पुत्र तथा तरह-तरह के उपायों के मध्य अनेक प्रकार से संघर्ष हो ॥८५॥

नरपतिरथ तौ शशास तस्माद् द्रुतमित एव युवामभिप्रयातम् ।
न हि मम हृदयं प्रयाति शान्तिं वनशकुनेरिव पुत्रलालसस्य ॥८६॥

तब राजा ने 'आप दोनों यहाँ से जल्दी चले जावें'—ऐसी आज्ञा दी और कहा—'पुत्र के लिये उत्सुक वन पक्षी के हृदय के समान मेरा हृदय शान्ति नहीं पा रहा है' ॥ ८६ ॥

परममिति नरेन्द्रशासनात्तौ ययतुरमात्यपुरोहितौ वनं तत् ।
कृतमिति सवधूजनः सदारो नृपतिरपि प्रचकार शेषकार्यम् ॥ ८७ ॥

इति श्रीअश्वघोषकृते पूर्वबुद्धचरितमहाकाव्ये
अन्तःपुरविलापो नाम अष्टमः सर्गः

'अच्छा'—ऐसा कहकर वे दोनों अमात्य एवं पुरोहित, उस वन को गये। 'ठीक हुआ'—ऐसा सोचकर वधू एवं पत्नी सहित राजा भी शेष (गृह) कार्य करने लगे ॥ ८७ ॥

यह पूर्वबुद्धचरितमहाकाव्य में अन्तःपुरविलाप नामक
अष्टम सर्ग समाप्त हुआ ।

—:o:—

अथ नवमः सर्गः

कुमारान्वेषणः

कुमार-अन्वेषण

ततस्तदा मन्त्रिपुरोहितौ तौ बाष्पप्रतोदाभिहतौ नृपेण।
विद्धौ सदश्वाविव सर्वयत्नात्सौहार्दशीघ्रं ययतुर्वनं तत् ॥ १ ॥

तब उसी समय मन्त्रि एवं पुरोहित दोनों (राजा के) आँसू रूप कषा से आहत होकर, विद्ध हुए अच्छे घोड़ों के समान मैत्री के कारण पूर्ण प्रयास से शीघ्र उस वन को गये ॥ १ ॥

तमाश्रमं जातपरिश्रमौ तावुपेत्य काले सदृशानुयात्रौ।
राजर्द्धिमुत्सृज्य विनीतचेष्टावुपेयतुर्भार्गवधिष्ण्यमेव ॥ २ ॥

अनुकूल अनुचरों के थके मान्दे वे दोनों समय पर उस आश्रम को प्राप्त करके राजसी वेष-भूषा छोड़कर औद्धत्य रहित हो, भार्गव के ही आश्रम को गये ॥ २ ॥

तौ न्यायतस्तं प्रतिपूज्य विप्रं तेनार्चितौ तावपि चानुरूपम्।
कृतासनौ भार्गवमासनस्थं छित्त्वा कथामूचतुरात्मकृत्यम् ॥ ३ ॥

उन दोनों ने उस भार्गव की धर्मानुसार पूजा की और उनके द्वारा वे भी यथायोग्य सत्कृत किये गये तथा आसन ग्रहण कर, उन्होंने आसन पर ही स्थित भार्गव से प्रसंग छोड़कर अपना कार्य कहा ॥ ३ ॥

शुद्धौजसः शुद्धविशालकीर्तेरिक्ष्वाकुवंशप्रभवस्य राज्ञः।
इमं जनं वेत्तु भवानधीतं श्रुतग्रहे मन्त्रपरिग्रहे च ॥ ४ ॥

आप, इस जन (हम दोनों) को विशुद्ध बलवान् एवं विशुद्ध विशाल यशस्वी इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न राजा (शुद्धोदन) के श्रुतग्रह (शास्त्र ग्रहण)

में पुरोहितपने एवं मन्त्र ग्रह (सलाह ग्रहण) में मन्त्रीपने में अधीत (निपुण) जानें ॥ ४ ॥

तस्येन्द्रकल्पस्य जयन्तकल्पः पुत्रो जरामृत्युभयं तितीर्षुः ।
इहाभ्युपेतः किल तस्य हेतोरावामुपेतौ भगवानवैतु ॥ ५ ॥

इन्द्र सदृश उस (राजा) का जयन्त सदृश पुत्र, जरा मृत्यु के भय से पार जाने की इच्छा से यहाँ आया है, उसके कारण हम दोनों यहाँ आये हैं—ऐसा भगवान् (आप) जानें ॥ ५ ॥

तौ सोऽब्रवीदस्ति स दीर्घबाहुः प्राप्तः कुमारो न तु नाववुद्धः ।
धर्मोऽयमावर्तक इत्यवेत्य यातस्त्वराडाभिमुखो मुमुक्षुः ॥ ६ ॥

उन दोनों से उस (भार्गव) ने कहा—वह दीर्घबाहु कुमार है, अबोध नहीं है । (यहां) आया था । यह धर्म पुनर्जन्म-प्रद है—ऐसा समझकर, मोक्ष की इच्छा से वह अराड (मुनि) की ओर चला गया ।

तस्मात्ततस्तावुपलभ्य तत्त्वं तं विप्रमामन्त्र्य तदैव सद्यः ।
खिन्नावखिन्नाविव राजभक्त्या प्रसस्रतुस्तेन यतः स यातः ॥ ७ ॥

तब वे दोनो उससे यथार्थ समाचार जानकर और उस ब्राह्मण से तत्काल आदेश लेकर वहां से शीघ्र उस ओर गये जहाँ से वह गया था । यद्यपि थक गये थे किन्तु राजभक्ति के कारण उत्साह युक्त थे ॥ ७ ॥

यान्तौ ततस्तौ मृजया विहीनमपश्यतां तं वपुषोज्ज्वलन्तम् ।
उपोपविष्टं पथि वृक्षमूले सूर्यं घनाभोगमिव प्रविष्टम् ॥ ८ ॥

तब रास्ते में जाते हुए उन दोनों ने स्नान रहित परन्तु तेजस्वी शरीर से देदीप्यमान उस कुमार को उसी प्रकार बैठे देखा मानो मेघ के घेरे में सूर्य प्रविष्ट हो ॥ ८ ॥

यानं विहायोपययौ ततस्तं पुरोहितो मन्त्रधरेण सार्धम् ।
यथा वनस्थं सहवामदेवो रामं दिदृक्षुर्मुनिरौर्वशेयः ॥ ९ ॥

तब मन्त्री के साथ पुरोहित वाहन छोड़कर, उसके समीप गये जैसे वन में स्थित राम को देखने की इच्छा से वामदेव उर्वशी-पुत्र वशिष्ठ मुनि गये थे ॥ ९ ॥

तावर्चयामासतुरर्हतस्तं दिवीव शुक्राङ्गिरसौ महेन्द्रम् ।
प्रत्यर्चयामास स चार्हतस्तौ दिवीव शुक्राङ्गिरसौ महेन्द्रः ॥१०॥

तब उन दोनों ने उसकी यथायोग्य पूजा की, जैसे स्वर्ग में शुक्र और अङ्गिरा ने इन्द्र की, और फिर उसने उन दोनों की उचित पूजा की जैसे स्वर्ग में इन्द्र ने शुक्र एवं अङ्गिरा की ॥ १० ॥

कृताभ्यनुज्ञावभितस्ततस्तौ निषेदतुः शाक्यकुलध्वजस्य ।
विरेजतुस्तस्य च संनिकर्षे पुनर्वसू योगगताविवेन्दोः ॥ ११ ॥

फिर वे दोनों उसकी आज्ञा पाकर शाक्य कुल की पताका (कुमार) के दोनों ओर बैठ गये। उसके सामीप्य से वे दोनों ऐसे सुशोभित हुए जैसे चन्द्रमा के योग से पुनर्वसु (जोड़ा) ॥ ११ ॥

तं वृक्षमूलस्थमभिज्वलन्तं पुरोहितो राजसुतं बभाषे ।
यथोपविष्टं दिवि पारिजाते बृहस्पतिः शक्रसुतं जयन्तम् ॥ १२ ॥

पुरोहित ने वृक्ष मूल में बैठे उस तेजस्वी राजपुत्र से उसी प्रकार कहा जैसे स्वर्ग में पारिजात (के मूल) में बैठे हुए शक्र के पुत्र जयन्त से बृहस्पति बोले थे ॥ १२ ॥

त्वच्छोकशल्ये हृदयावगाढे मोहं गतो भूमितले मुहूर्त्तम् ।
कुमार राजा नयनाम्बुवर्षो यत्त्वामवोचत्तदिदं निबोध ॥ १३ ॥

हे कुमार ! राजा ने तुम्हारे (सम्बन्धित) शोक के हृदय में चुभने पर, क्षण भर के लिए पृथ्वी पर बेहोश होते हुए, आंखों से आंसू बहाकर तुम्हे जो कहा है, वह यह है—सुनो—॥ १३ ॥

जानामि धर्मं प्रति निश्चयं ते परैमि ते भाविनमेतमर्थम् ।
अहं त्वकाले वनसंश्रयात्ते शोकाग्निनाग्निप्रतिमेन दह्ये ॥ १४ ॥

धर्म के प्रति तुम्हारा (प्रगाढ़) विश्वास है—यह जानता हुँ। यह तुम्हारा अवश्यम्भावी होनहार था—यह भी जानता हूँ। किन्तु असमय में तुमने वन का आश्रय लिया है; अतः अग्नि तुल्य शोकाग्नि से मैं जल रहा हूँ ॥ १४ ॥

तदेहि धर्मप्रिय मत्प्रियार्थं धर्मार्थमेव त्यज बुद्धिमेताम् ।
अयं हि मा शोकरयः प्रवृद्धो नदीरयः कूलमिवाभिहन्ति ॥ १५ ॥

अतः हे धर्मप्रिय ! मेरा प्रिय करने के लिए (मेरे जीवन रक्षण रूप) धर्म के लिए ही आओ इस (वनवास) बुद्धि को त्यागो। यह बढ़ा हुआ शोक का वेग, नदी के वेग से नष्ट तट सदृश मुझे नष्ट कर रहा है ॥ १५ ॥

मेघाम्बुकक्षाद्रिषु या हि वृत्तिः समीरणार्काग्निमहाशनीनाम् ।
तां वृत्तिमस्मासु करोति शोको विकर्षणोच्छोषणदाहभेदैः ॥ १६ ॥

वायु, सूर्य, अग्नि, महावज्र का विक्षेप, शोषण, दाहन तथा भेदन रूप व्यापार क्रमशः मेघ, जल, घास एवं पर्वतों में होता है, वही व्यापार यह शोक मेरे प्रति एक साथ कर रहा है ॥ १६ ॥

तद्भुङ्क्ष्व तावद्वसुधाधिपत्यं काले वनं यास्यसि शास्त्रदृष्टे ।
अनिष्टबन्धौ कुरु मय्यपेक्षां सर्वेषु भूतेषु दया हि धर्मः ॥ १७ ॥

अतः हे शास्त्रज्ञ ! तब तक पृथ्वी का प्रभुत्व भोगो। समय पर (चौथेपन में) वन जाना। मुझ—मृत्यु की सम्भावना वाले—पिता की उपेक्षा मत करो। सब भूतों में 'दया' ही धर्म है ॥ १७ ॥

न चैष धर्मो वन एव सिद्धः पुरेऽपि सिद्धिर्नियता यतीनाम् ।
बुद्धिश्च यत्नश्च निमित्तमत्र वनं च लिङ्गं च हि भीरुचिह्नम् ॥ १८ ॥

और यह धर्म (केवल) वन में ही सिद्ध नहीं होता है, (अपितु) नगर में भी यत्नशीलों की सिद्धि निश्चित होती है। इस (सिद्धि) में बुद्धि एवं प्रयत्न कारण हैं। वन (में वास) एवं लिङ्ग (भिक्षु वेष) कायर के चिह्न हैं ॥ १८ ॥

मौलीधरैरंसविषक्तहारैः केयूरविष्टब्धभुजैर्नरेन्द्रैः ।
लक्ष्म्यङ्कमध्ये परिवर्तमानैः प्राप्तो गृहस्थैरपि मोक्षधर्मः ॥ १९ ॥

मुकुटधारी, गले में लम्बमान् हार धारण करने वाले, केयूरों से जकड़ी भुजा वाले, लक्ष्मी की गोद में खेलने वाले राजाओं ने, गृहस्थ होने पर भी मोक्ष प्राप्त किया है ॥ १६ ॥

ध्रुवानुजौ यौ बलिवज्रबाहू वैभ्राजमाषाढमथान्तिदेवम् ।
विदेहराजं जनकं तथैव रामं द्रुमं सेनजितश्च राज्ञः ॥ २० ॥

ध्रुव के अनुज जो बलि एवं वज्रबाहु तथा वैभ्राज, आषाढ़ तथा अन्तिदेव, विदेहराज जनक, उसी प्रकार राम, द्रुम, सेनजित राजा गण ॥ २० ॥

एतान् गृहस्थान्नृपतीनवेहि नैःश्रेयसे धर्मविधौ विनीतान् ।
उभौ तु तस्माद्युगपद्भजस्व ज्ञानाधिपत्यं च नृपश्रियं च ॥ २१ ॥

इन राजाओं को जो कि गृहस्थ थे मोक्ष-धर्म-विधि में दीक्षित जानो। अतः ज्ञान के आधिपत्य एवं राज्यलक्ष्मी दोनों का साथ उपभोग करो ॥ २१ ॥

इच्छामि हि त्वामुपगुह्य गाढं कृताभिषेकं सलिलार्द्रमेव ।
धृतातपत्रं समुदीक्षमाणस्तेनैव हर्षेण वनं प्रवेष्टुम् ॥ २२ ॥

मैं चाहता हूँ कि तुम्हारा अभिषेक हो और जल से आर्द्र ही तुम्हारा गाढ़ आलिङ्गन करके, छत्र धारण किए हुए तुन्हें देखकर, उसी हर्ष के साथ बन को चला जाऊँ ॥ २२ ॥

इत्यब्रवीद् भूमिपतिर्भवन्तं वाक्येन बाष्पग्रथिताक्षरेण ।
श्रुत्वा भवानर्हति तत्प्रियार्थं स्नेहेन तत्स्नेहमनुप्रयातुम् ॥ २३ ॥

राजा ने अश्रु से ग्रसित अक्षर-युक्त वाक्य से आपको ऐसा कहा है। यह सुनकर आपको उसका प्रिय करने के लिये, स्नेह से, उसके स्नेह के प्रति आकृष्ट होना चाहिये ॥ २३ ॥

शोकाम्भसि त्वत्प्रभवे ह्यगाधे दुःखार्णवे मज्जति शाक्यराजः ।
तस्मात्तमुत्तारय नाथहीनं निराश्रयं मग्नमिवार्णवे नौः ॥२४॥

शाक्यराज, तुमसे उत्पन्न शोक रूप जलवाले अगाध दुःखसागर में डूब रहा है। अतः 'उस' अनाथ को तुम उबारो—जैसे समुद्र में डूबते हुए आश्रय हीन को नाव उतारती है ॥ २४ ॥

भीष्मेण गङ्गोदरसंभवेन रामेण रामेण च भार्गवेण ।
श्रुत्वा कृतं कर्म पितुः प्रियार्थं पितुस्त्वमप्यर्हसि कर्तुमिष्टम् ॥ २५ ॥

गङ्गा के उदर से उत्पन्न भीष्मपितामह (दशरथ पुत्र) राम तथा (भृगु पुत्र) राम (परशुराम), इन्होंने पिता का प्रिय करने के लिए (तत्तत्)

कर्म किये। (यह सब) सुनकर तुम्हें भी पिता का इष्ट (हित) करना चाहिए ॥ २५ ॥

संवर्धयित्रीं समवेहि देवीमगस्त्यजुष्टां दिशमप्रयाताम् ।
प्रनष्टवत्सामिव वत्सलां गामजस्रमार्तां करुणां रुदन्तीम् ॥ २६ ॥

तुम्हारा पालन पोषण करनेवाली देवी (गौतमी), अगस्त से सेवित (दक्षिण) दिशा को नहीं गई है (मरी तो नहीं है) किन्तु जिसका बछड़ा मर गया हो उस गाय की तरह दुःखी होकर निरन्तर करुणा रुदन करती रहती है ॥ २६ ॥

हंसेन हंसीमिव विप्रयुक्तां त्यक्तां गजेनेव वने करेणुम् ।
आर्तां सनाथामपि नाथहीनां त्रातुं वधूमर्हसि दर्शनेन ॥२७॥

हंस से वियुक्त होकर हंसिनी की तरह, हाथी से वन में छोड़ी गई हथिनी की तरह दुःखिनी (अपनी) भार्या को, जो सनाथ होने पर भी अनाथ हो रही है, दर्शन देकर, तुम्हें उसकी रक्षा करना चाहिये ॥ २७ ॥

एकं सुतं बालमनर्हदुःखं संतापमन्तर्गतमुद्वहन्तम् ।
तं राहुलं मोक्षय बन्धुशोकाद्राहूपसर्गादिव पूर्णचन्द्रम् ॥ २८ ॥

(केवल) एक पुत्र जो छोटा है, दुःख सहने के योग्य नहीं है तथा आन्तरिक सन्ताप सह रहा है—उस राहुल को पितृ-शोक से मुक्त करो—जैसे राहु के ग्रहण से पूर्ण चन्द्र मुक्त होता है ॥ २८ ॥

शोकाग्निना त्वद्विरहेन्धनेन निःश्वासधूमेन तमःशिखेन ।
त्वद्दर्शनाम्ब्विच्छति दह्यमानमन्तःपुरं चैव पुरं च कृत्स्नम् ॥ २९ ॥

तुम्हारा विरह जिसकी लकड़ी है, आहें—धुआँ मोह-ज्वालाएँ हैं—ऐसी शोकाग्नि से जल रहा अन्तःपुर (रनिवास) एवं सारा नगर, तुम्हारे दर्शनरूप जल की इच्छा कर रहे हैं ॥ २९ ॥

स बोधिसत्त्वः परिपूर्णसत्त्वः श्रुत्वा वचस्तस्य पुरोहितस्य ।
ध्यात्वा मुहूर्तं गुणवद्गुणज्ञः प्रत्युत्तरं प्रश्रितमित्युवाच ॥ ३० ॥

पूर्ण बलिष्ठ, गुणवान् एवं गुणज्ञ उस बोधिसत्त्व ने उस पुरोहित का वचन सुनकर क्षण भर ध्यान करके, विनय-युक्त उत्तर दिया ॥ ३० ॥

अवैमि भावं तनये पितॄणां विशेषतो यो मयि भूमिपस्य।
जानन्नपि व्याधिजराविपद्भ्यो भीतस्त्वगत्या स्वजनं त्यजामि ॥३१

पुत्र के प्रति पिता का क्या प्यार रहता है—वह मैं जानता हूँ। विशेषकर राजा का मेरे प्रति जो भाव है वह भी जानता हूँ। जानते हुए भी भी व्याधि, जरा एवं विपत्ति से डरकर, लाचारी हालत में स्वजनों को छोड़ रहा हूँ ॥ ३१ ॥

द्रष्टुं प्रियं कः स्वजनं हि नेच्छेन्नान्ते यदि स्यात्प्रियविप्रयोगः।
यदा तु भूत्वापि चिरं वियोगस्ततो गुरुं स्निग्धमपि त्यजामि ॥३२॥

यदि अन्त में प्रियजनों का वियोग न हो तो प्रिय स्वजनों को कौन नहीं देखना चाहेगा ? जब कि देर (तक संयोग) होकर भी वियोग होता है अतः स्नेही पिता को भी त्याग रहा हूँ ॥ ३२ ॥

मद्धेतुकं यत्तु नराधिपस्य शोकं भवानाह न तत्प्रियं मे।
यत्स्वप्नभूतेषु समागमेषु संतप्यते भाविनि विप्रयोगे ॥ ३३ ॥

'मेरे कारण राजा को शोक हुआ—' यह जो आपने कहा, वह मुझे प्रिय नहीं लगा, क्योंकि समागम, स्वप्न सदृश (अल्पकालीन) में वियोग अवश्यम्भावी (शाश्वत) होता है, इसमें वह सन्ताप नहीं करते हैं ॥ ३३ ॥

एवं च ते निश्चयमेतु बुद्धिर्दृष्ट्वा विचित्रं जगतः प्रचारम्।
सन्तापहेतुर्न सुतो न बन्धुरज्ञाननैमित्तिक एष तापः ॥ ३४ ॥

(इस) जगत् की विचित्र गति देखकर, आपकी बुद्धि इस निश्चय पर पहुँचे कि सन्ताप का कारण न पुत्र है और न वन्धु (पिता) यह सन्ताप अज्ञान के कारण होता है ॥ ३४ ॥

यथाध्वगानामिह संगतानां काले वियोगो नियतः प्रजानाम्।
प्राज्ञो जनः को नु भजेत शोकं बन्धुप्रतिज्ञातजनैर्विहीनः ॥ ३५ ॥

इस संसार में पथिकों के समान (किसी स्थान और समय पर) सम्मिलित हुऐ लोगों का वियोग अवश्यम्भावी है, तो फिर बन्धु एवं परिचित जनों से वियोग होने पर कौन बुद्धिमान् जन शोक करे ॥ ३५ ॥

इहैति हित्वा स्वजनं परत्र प्रलभ्य चेहापि पुनः प्रयाति।
गत्वापि तत्राप्यपरत्र गच्छत्येवं जने त्यागिनि कोऽनुरोधः ॥ ३६ ॥

मनुष्य, पूर्वजन्म में स्वजनों को छोड़कर यहाँ आता है। फिर यहाँ से भी (स्वजनों को) धोखा देकर चला (मर) जाता है। वहाँ भी जाकर फिर अन्यत्र चला जाता है। इस प्रकार त्याग करनेवाले प्राणी में क्या आग्रह ? ॥ ३६ ॥

यदा च गर्भात्प्रभृति प्रवृत्तः सर्वास्ववस्थासु वधाय मृत्युः ।
कस्मादकाले वनसंश्रयं मे पुत्रप्रियस्तत्रभवानवोचत् ॥ ३७ ॥

जब कि गर्भ से लेकर सब अवस्थाओं में मृत्यु वध के लिये प्रवृत्त है तो पुत्र प्रिय पूज्य पिता ने क्यों कहा कि मैं अकाल में वन का आश्रय ले रहा हूँ ॥ ३७ ॥

भवत्यकालो विषयाभिपत्तौ कालस्तथैवार्थविधौ प्रदिष्टः ।
कालो जगत्कर्षति सर्वकालान्निर्वाहके श्रेयसि नास्ति कालः ॥ ३८ ॥

विषय भोग के लिए अकाल होता है उसी प्रकार अर्थविधि, धनार्जन के सम्बन्ध में काल का निरूपण है। काल सदैव जगत् को खींचता रहता है। मोक्ष के सम्बन्ध में कोई निश्चित काल नहीं ॥ ३८ ॥

राज्यं मुमुक्षुर्मयि यच्च राजा तदप्युदारं सदृशं पितुश्च ।
प्रतिग्रहीतुं मम न क्षमं तु लोभादपथ्यान्नमिवातुरस्य ॥ ३९ ॥

और राजा मेरे ऊपर यह जो राज्य छोड़ना चाहते हैं—वह तो पिता के अनुरूप उदारता है। किन्तु मेरे लिए ग्रहण करना योग्य नहीं, जैसे रोगी के लिये लोभवश अपथ्य अन्न लेना उचित नहीं है ॥ ३९ ॥

कथं नु मोहायतनं नृपत्वं क्षमं प्रपत्तुं विदुषा नरेण ।
सोद्वेगता यत्र मदः श्रमश्च परापचारेण च धर्मपीडा ॥ ४० ॥

विद्वान् पुरुष के लिए मोह का भण्डार राज्यसत्ता स्वीकार करना कैसे उचित हो सकता है ? जिसमें उद्वेग, मद तथा श्रम है और दूसरों पर अत्याचार करने से धर्म में बाधा है ॥ ४० ॥

जाम्बूनदं हर्म्यमिव प्रदीप्तं विषेण संयुक्तमिवोत्तमान्नम् ।
ग्राहाकुलश्चाम्बिव सारविन्दं राज्यं हि रम्यं व्यसनाश्रयं च ॥ ४१ ॥

राज्य (ऊपर से बड़ा ही) रम्य, किन्तु स्वर्णमय प्रज्वलित राजभवन तथा विष मिश्रित उत्तम भोजन, मगर से भरा कमल सहित जलाशय के समान है और दुःखों का घर है ॥ ४१ ॥

इत्थं च राज्यं न सुखं न धर्मः पूर्वे यथा जातघृणा नरेन्द्राः ।
वयःप्रकर्षेऽपरिहार्यदुःखे राज्यानि मुक्त्वा वनमेव जग्मुः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार राज्य में न सुख है, न धर्म । पूर्व काल में राजा लोग जिसमें दुःख अवश्यम्भावी है—ऐसी वृद्धावस्था में राज्य छोड़कर वन को ही चले गए ॥ ४२ ॥

वरं हि भुक्तानि तृणान्यरण्ये तोषं परं रत्नमिवोपगुह्य ।
सहोषितं श्रीसुलभैर्न चैव दोषैरदृश्यैरिव कृष्णसर्पैः ॥ ४३ ॥

वन में रत्न के समान सुरक्षा करके तृण खाकर सन्तोष करना अच्छा। किन्तु अदृश्य कृष्ण सर्प सदृश दोषों के साथ रहना अच्छा नहीं जो दोष लक्ष्मी से सुलभ हैं ॥ ४३ ॥

श्लाघ्यं हि राज्यानि विहाय राज्ञां धर्माभिलाषेण वनं प्रवेष्टुम् ।
भग्नप्रतिज्ञस्य न तूपपन्नं वनं परित्यज्य गृहं प्रवेष्टुम् ॥४४॥

धर्म की अभिलाषा से राज्य छोड़कर वन में प्रवेश करना प्रशंशनीय है किन्तु प्रतिज्ञा तोड़कर, वन त्यागकर, घर में प्रवेश करना योग्य नहीं है ॥ ४४ ॥

जातः कुले को हि नरः ससत्त्वो धर्माभिलाषेण वनं प्रविष्टः ।
काषायमुत्सृज्य विमुक्तलज्जः पुरन्दरस्यापि पुरं श्रयेत ॥ ४५ ॥

कौन ऐसा धैर्यशाली मनुष्य होगा जो (श्रेष्ठ) कुल में उत्पन्न होकर धर्म की अभिलाषा से वन में जाकर भी काषाय को त्यागकर निर्लज्ज होकर इन्द्र के नगर में भी रह सकता है ॥ ४५ ॥

लोभाद्धि मोहादथवा भयेन यो वान्तमन्नं पुनराददीत ।
लोभात्स मोहादथवा भयेन संत्यज्य कामान् पुनराददीत ॥४६॥

लोभ मोह अथवा भय से वमन किये हुए अन्न को जो फिर से खागया वही लोभ मोह अथवा भय से छोड़े हुए विषय का सेवन करेगा ॥ ४६ ॥

यश्च प्रदीप्ताच्छरणात्कथंचिन्निष्क्रम्य भूयः प्रविशेत्तदेव ।
गार्हस्थ्यमुत्सृज्य स दृष्टदोषो मोहेन भूयोऽभिलषेद् ग्रहीतुम् ॥४७॥

और जो जलते हुए घर से किसी तरह निकल कर पुनः प्रवेश करे, वही दोष देखकर गृहस्थाश्रम का परित्याग कर देने पर, मोह के कारण पुनः ग्रहण करना चाहेगा ॥ ४७ ॥

या च श्रुतिर्मोक्षमवाप्तवन्तो नृपा गृहस्था इति नैतदस्ति ।
शमप्रधानः क्व, च मोक्षधर्मो दण्डप्रधानः क्व च राजधर्मः ॥४८॥

और यह श्रुति (किंवदन्ती) कि राजा लोग गृहस्थ होते हुए भी मोक्ष पद को प्राप्त हुए—यह ऐसी बात नहीं है । शम प्रधान मोक्ष धर्म कहां ? एवं दण्ड प्रधान राजधर्म कहां ? ॥ ४८ ॥

शमे रतिश्चेच्छिथिलं च राज्यं राज्ये मतिश्चेच्छमविप्लवश्च ।
शमश्च तैक्ष्ण्यं च हि नोपपन्नं शीतोष्णयोरैक्यमिवोदकाग्न्योः ॥४९॥

जिसकी शान्ति में रुचि होगी; उसका राज्य शासन शिथिल हो जावेगा । यदि राज्य में मति होगी तो शान्ति भंग हो जावेगी । जिस प्रकार शीतल जल एवं उष्ण वायु का योग नहीं है उसी प्रकार शम एवं तीक्ष्णता का भी योग नहीं है ॥ ४९ ॥

तन्निश्चयाद्वा वसुधाधिपास्ते राज्यानि मुक्त्वा शममाप्तवन्तः ।
राज्याङ्गिता वा निभृतेन्द्रियत्वादनैष्ठिके मोक्षकृताभिमानाः ॥५०॥

अतः उन राजाओं ने (उपर्युक्त निश्चय के कारण) राज्य त्यागकर मोक्ष प्राप्त किया, या राज्य के शासक होते हुए जितेन्द्रिय होने के कारण अनैष्ठिक (पद) में ही मोक्ष का केवल अभिमान किया ॥ ५० ॥

तेषां च राज्येऽस्तु शमो यथावत्-प्राप्तो वनं नाहमनिश्चयेन ।
छित्वा हि पाशं गृहबन्धुसंज्ञं मुक्तः पुनर्न प्रविविक्षुरस्मि ॥५१॥

उनको राज्य में (चाहे) शान्ति मिले (किन्तु) मैं बिना निश्चय के वन में नहीं आया हूँ, क्योंकि गृह एवं बन्धु नामक बन्धन काटकर मुक्त हुआ हूँ । फिर बन्धन में नहीं पड़ना चाहता ॥ ५१ ॥

इत्यात्मविज्ञानगुणानुरूपं मुक्तस्पृहं हेतुमदूर्जितं च।
श्रुत्वा नरेन्द्रात्मजमुक्तवन्तं प्रत्युत्तरं मन्त्रधरोऽप्युवाच ॥ ५२

इस प्रकार अपने ज्ञान एवं गुण के अनुरूप निस्पृह दृष्टान्त सहित ओजस्वी उत्तर देने वाले राजकुमार को मन्त्री ने भी प्रति उत्तर दिया ॥५२॥

यो निश्चयो धर्मविधौ तवायं नायं न युक्तो न तु कालयुक्तः।
शोकाय दत्त्वा पितरं वयःस्थं स्याद्धर्मकामस्य हि तेन धर्मः ॥५३॥

धर्म की विधि में तुम्हारा जो यह निश्चय है (वह) अयोग्य नहीं है, किन्तु समय योग्य नहीं है। वृद्ध पिता को शोक देकर धर्म इच्छुक तुमको धर्म नहीं होगा ॥ ५३ ॥

नूनं च बुद्धिस्तव नातिसूक्ष्मा धर्मार्थकामेष्वविचक्षणा वा।
हेतोरदृष्टस्य फलस्य यस्त्वं प्रत्यक्षमर्थं परिभूय यासि ॥ ५४ ॥

निश्चय तुम्हारी बुद्धि, धर्म, अर्थ, काम में अति सूक्ष्म नहीं है या मूर्ख ही है। क्योंकि तुम अदृष्ट फल के निमित्त प्रत्यक्ष अर्थ (सम्पत्ति) का तिरस्कार करके जा रहे हो ॥ ५४ ॥

पुनर्भवोऽस्तीति च केचिदाहुर्नास्तीति केचिन्नियतप्रतिज्ञाः।
एवं यदा संशयितोऽयमर्थस्तस्मात्क्षमं भोक्तुमुपस्थिता श्रीः ॥ ५५ ॥

कुछ लोग कहते हैं कि 'पुनर्जन्म है', और कुछ दृढ़ प्रतिज्ञ होकर कहते हैं 'पुनर्जन्म नहीं है'—इस प्रकार जब कि यह विषय संदिग्ध है तो (प्रत्यक्ष) प्राप्त लक्ष्मी का उपभोग करना ही उचित है ॥ ५५ ॥

भूयः प्रवृत्तिर्यदि काचिदस्ति रंस्यामहे तत्र यथोपपत्तौ।
अथ प्रवृत्तिः परतो न काचित्सिद्धोऽप्रयत्नाज्जगतोऽस्य मोक्षः ॥५६॥

यदि फिर कोई प्रवृत्ति है तो फिर वहां जो कुछ प्राप्त होगा, उसी में रमेंगे। यदि इससे परे कोई प्रवृत्ति नहीं है तो बिना प्रयत्न के इस विश्व का मोक्ष सिद्ध है ॥ ५६ ॥

अस्तीति केचित्परलोकमाहुर्मोक्षस्य योगं न तु वर्णयन्ति।
अग्नेर्यथा ह्यौष्ण्यमपां द्रवत्वं तद्वत्प्रवृत्तौ प्रकृतिं वदन्ति ॥ ५७ ॥

कुछ लोग कहते हैं—'परलोक है' किन्तु मोक्ष की युक्ति (वे) नहीं बताते हैं। वे कहते हैं—'जैसे अग्नि में उष्णता एवं जल में द्रवत्व है वैसे ही प्रवृत्ति में स्वभाव ही है' ॥ ५७ ॥

केचित्स्वभावादिति वर्णयन्ति शुभाशुभं चैव भवाभवौ च ।
स्वाभाविकं सर्वमिदं च यस्मादतोऽपि मोघो भवति प्रयत्नः ॥५८॥

कुछ लोग इस प्रकार वर्णन करते हैं—'शुभ, अशुभ, जन्म एवं मृत्यु स्वभाव से होते हैं।' जब कि यह सब (कुछ) स्वाभाविक है इसलिए भी प्रयत्न व्यर्थ है ॥ ५८ ॥

यदिन्द्रियाणां नियतः प्रचारः प्रियाप्रियत्वं विषयेषु चैव ।
संयुज्यते यज्जरयार्तिभिश्च कस्तत्र यत्नो ननु स स्वभावः ॥५९॥

जो इन्द्रियों का प्रचार (विषयों में प्रवृत्ति) नियत है, प्रिय तथा अप्रिय (राग-द्वेष) विषयों में (नियत) है एवं जो लोग जरा तथा रोग से संयुक्त होते हैं—इन सबमें प्रयत्न क्या ? यह तो निश्चित स्वभाव है ॥ ५९ ॥

अद्भिर्हुताशः शममभ्युपैति तेजांसि चापो गमयन्ति शोषम् ।
भिन्नानि भूतानि शरीरसंस्थान्यैक्यं च गत्वा जगदुद्वहन्ति ॥ ६० ॥

जल से अग्नि बुझती है एवं अग्नि से जल सूखता है। शरीर में स्थित भूत (पाँचों तत्त्व) भिन्न-भिन्न हैं और एक होकर जगत् बनाते हैं ॥ ६० ॥

यत्पाणिपादोदरपृष्ठमूर्ध्नां निवर्तते गर्भगतस्य भावः ।
यदात्मनस्तस्य च तेन योगः स्वाभाविकं तत्कथयन्ति तज्ज्ञाः ॥ ६१ ॥

गर्भ में आने पर (जीव के) जो हाथ, पैर, उदर, पीठ, एवं मस्तक उत्पन्न होते हैं और आत्मा से उनका संयोग होता है—रहस्यज्ञाता इन सबको स्वाभाविक बताते हैं ॥ ६१ ॥

कः कण्टकस्य प्रकरोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभावं मृगपक्षिणां वा ।
स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामकारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः ॥ ६२ ॥

काँटों को तीक्ष्ण एवं मृग-पक्षियों के चित्र-विचित्र भाव कौन बनाता

है ? यह सब स्वभाव से हुआ है। इनमें इच्छाचारिता नहीं है, फिर प्रयत्न कहाँ ? ॥ ६२ ॥

सर्गं वदन्तीश्वरतस्तथान्ये तत्र प्रयत्ने पुरुषस्य कोऽर्थः ।
य एव हेतुर्जगतः प्रवृत्तौ हेतुर्निवृत्तौ नियतः स एव ॥ ६३ ॥

इसी तरह अन्य व्यक्तियों का कथन है—'सृष्टि ईश्वर से होती है' उसमें पुरुष के प्रयत्न की क्या आवश्यकता ? जगत् की प्रवृत्ति में जो कुछ कारण है, निवृत्ति में भी वही कारण नियत है ॥ ६३ ॥

केचिद्वदन्त्यात्मनिमित्तमेव प्रादुर्भवं चैव भवक्षयं च ।
प्रादुर्भवं तु प्रवदन्त्ययत्नाद्यत्नेन मोक्षाधिगमं ब्रुवन्ति ॥ ६४ ॥

कुछ लोग कहते हैं—'प्रादुर्भाव एवं विश्वक्षय का कारण आत्मा है।' 'प्रादुर्भाव बिना यत्न से' बताते हैं। एवं 'मोक्ष-प्राप्ति यत्न से बताते हैं ॥ ६४ ॥

नरः पितॄणामनृणः प्रजाभिर्वेदैर्ऋषीणां क्रतुभिः सुराणाम् ।
उत्पद्यते सार्धमृणैस्त्रिभिस्तैर्यस्यास्ति मोक्षः किल तस्य मोक्षः ॥ ६५ ॥

मनुष्य, सन्तान द्वारा पितरों के, वेद द्वारा ऋषियों के एवं यज्ञ द्वारा देवों के ऋण से मुक्त होता है। वह तीन ऋणों के साथ उत्पन्न होता है। जो उनसे मुक्त होता है, उसी का मोक्ष है ॥ ६५ ॥

इत्येवमेतेन विधिक्रमेण मोक्षं सयत्नस्य वदन्ति तज्ज्ञाः ।
प्रयत्नवन्तोऽपि हि विक्रमेण मुमुक्षवः खेदमवाप्नुवन्ति ॥ ६६ ॥

इस प्रकार इस विधि-क्रम से यत्न करने वाले को मोक्ष मिलता है—ऐसा तत्त्ववेत्ताओं का कथन है। पराक्रम से प्रयत्न करनेवाले भी मुमुक्षु कष्ट का अनुभव करते हैं ॥ ६६ ॥

तत्सौम्य मोक्षे यदि भक्तिरस्ति न्यायेन सेवस्व विधिं यथोक्तम् ।
एवं भविष्यत्युपपत्तिरस्य संतापनाशश्च नराधिपस्य ॥ ६७ ॥

अतः हे सौम्य ! यदि मोक्ष में भक्ति है तो बताये गये (शास्त्र) विधि

का उचित रीति से सेवन करो। ऐसा करने पर इसकी प्राप्ति होगी एवं राजा के सन्ताप का नाश होगा ॥ ६७ ॥

या च प्रवृत्ता तव दोषबुद्धिस्तपोवनेभ्यो भवनं प्रवेष्टुम् ।
तत्रापि चिन्ता तव तात मा भूत् पूर्वेऽपि जग्मुः स्वगृहान्वनेभ्यः ॥६८॥

और हे तात ! तपोवन से घर लौटने में तुम्हारी बुद्धि, जो दोष देखती है, उस विषय में भी तुम्हें चिन्ता नहीं करना चाहिए। पूर्व काल में भी लोग वन से अपने घर लौटे हैं ॥ ६८ ॥

तपोवनस्थोऽपि वृतः प्रजाभिर्जगाम राजा पुरमम्बरीषः ।
तथा महीं विप्रकृतामनार्यैस्तपोवनादेत्य ररक्ष रामः ॥ ६९ ॥

तपोवन में रहने पर भी राजा अम्बरीष प्रजाओं से घिरकर नगर को गये। तथा जब अनार्यों से पृथ्वी आक्रान्त हुई तब वन से आकर राम ने उसकी रक्षा की ॥ ६९ ॥

तथैव शाल्वाधिपतिर्द्रुमाख्यो वनात्ससूनुर्नगरं विवेश ।
ब्रह्मर्षिभूतश्च मुनेर्वसिष्ठाद्दध्रे श्रियं सांकृतिरन्तिदेवः ॥ ७० ॥

उसी तरह द्रुम नामक शाल्व (देश) का राजा पुत्र के साथ वन से नगर में आया एवं संकृत के पुत्र रन्तिदेव ने जो ब्रह्मर्षि हो गये थे, वशिष्ठ मुनि से राज्यलक्ष्मी ग्रहण की ॥ ७० ॥

एवंविधा धर्मयशः-प्रदीप्ता वनानि हित्वा भवनान्यतीयुः ।
तस्मान्न दोषोऽस्ति गृहं प्रयातुं तपोवनाद्धर्मनिमित्तमेव ॥ ७१ ॥

धर्म और यश से देदीप्यमान् इस प्रकार के लोग वन छोड़कर घर लौटे। अतः धर्म के निमित्त ही तपोवन से घर लौटने में कोई दोष नहीं है ॥ ७१ ॥

ततो वचस्तस्य निशम्य मन्त्रिणः प्रियं हितं चैव नृपस्य चक्षुषः ।
अनूनमव्यस्तमसक्तमद्रुतं धृतौ स्थितो राजसुतोऽब्रवीद्वचः ॥ ७२ ॥

राजा के नेत्र स्वरूप उस मन्त्री के प्रिय एवं हितकर वचन सुनकर, धैर्य में स्थित राजकुमार, परिपूर्ण, ठोस, स्पष्टार्थ एवं शान्त वचन बोला—॥ ७२ ॥

इहास्ति नास्तीति य एष संशयः परस्य वाक्यैर्न ममात्र निश्चयः।
अवेत्य तत्त्वं तपसा शमेन च स्वयं ग्रहीष्यामि यदत्र निश्चितम् ॥७३॥

इस संसार में 'अस्ति', 'नास्ति' ('है', 'नहीं है')—यह जो संशय है इस सम्बन्ध में दूसरों की बातों से मेरा निश्चय नहीं होगा। तपस्या एवं शान्ति से तत्त्व जानकर, यहाँ जो निश्चय होगा, उसे मैं स्वयं ग्रहण करूँगा ॥ ७३ ॥

न मे क्षमं संशयजं हि दर्शनं ग्रहीतुमव्यक्तपरस्पराहतम्।
बुधः परप्रत्ययतो हि को व्रजेज्जनोऽन्धकारेऽन्ध इवान्धदेशिकः ॥७४॥

संशयजन्य, अस्पष्ट एवं परस्पर विरोधी दर्शन ग्रहण करना हमारे लिये उचित नहीं है। अन्धा देशिक (गुरुवाला) अन्धा (शिष्य) के समान कौन विद्वान् दूसरों के विश्वास पर अँधेरे में चलेगा ॥ ७४ ॥

अदृष्टतत्त्वस्य सतोऽपि किं तु मे शुभाशुभे संशयिते शुभे मतिः।
वृथापि खेदो हि वरं शुभात्मनः सुखं न तत्त्वेऽपि विगर्हितात्मनः ॥७५॥

यद्यपि मुझे तत्त्वबोध नहीं हुआ है तथापि शुभ एवं अशुभ में सन्देह होने पर शुभ में ही मेरी बुद्धि है। शुभाचारी का वृथा परिश्रम भी अच्छा है (किन्तु) अशुभाचारी का यथार्थ सुख भी अच्छा नहीं है ॥ ७५ ॥

इमं तु दृष्ट्वागममव्यवस्थितं यदुक्तमाप्तैस्तदवेहि साध्विति।
प्रहीणदोषत्वमवेहि चाप्ततां प्रहीणदोषो ह्यनृतं न वक्ष्यति ॥ ७६ ॥

इस शास्त्र को असम्बद्ध देखकर, जो आप्तजनों ने कहा है उसी को साधु जानो और जिसमें दोष नहीं, उसी को आप्तजन जानो। क्योंकि दोषशून्य व्यक्ति मिथ्या नहीं बोलेगा ॥ ७६ ॥

गृहप्रवेशं प्रति यच्च मे भवानुवाच रामप्रभृतीन्निदर्शनम्।
न ते प्रमाणं न हि धर्मनिश्चयेष्वलं प्रमाणाय परिक्षतव्रताः ॥ ७७ ॥

गृहप्रवेश के सम्बन्ध में आपने राम आदि के जो उदाहरण दिये, प्रमाण नहीं हो सकते जिनका व्रत भङ्ग हो गया है वे धर्म के निर्णय में प्रमाण नहीं माने जा सकते ॥ ७७ ॥

तदेवमप्येव रविर्महीं पतेदपि स्थिरत्वं हिमवान् गिरिस्त्यजेत्।
अदृष्टतत्त्वो विषयोन्मुखेन्द्रियः श्रयेय न त्वेव गृहान् पृथग्जनः ॥७८

अतः यदि सूर्य भी पृथ्वी पर गिर जावे, हिमालय स्थिरता छोड़ दे (चलने लगे) किंतु मैं, विना तत्त्व देखे, इन्द्रियों को विषयों की ओर मोड़कर, अज्ञानी बनकर घर नहीं जाऊँगा ॥ ७८ ॥

अहं विशेयं ज्वलितं हुताशनं न चाकृतार्थः प्रविशेयमालयम् ।
इति प्रतिज्ञां स चकार गर्वितो यथेष्टमुत्थाय च निर्ममो ययौ ॥७९॥

मैं प्रज्वलित अग्नि में प्रवेश कर लूँगा, किन्तु असफल होकर घर में प्रवेश नहीं करूँगा—अभिमान के साथ उसने ऐसी प्रतिज्ञा की (एवं) ममता रहित होकर एक ओर इच्छानुसार उठकर चल दिया ॥ ७९ ॥

ततः सबाष्पौ सचिवद्विजावुभौ निशम्य तस्य स्थिरमेव निश्चयम् ।
विषण्णवक्त्रावनुगम्य दुःखितौ शनैरगत्या पुरमेव जग्मतुः ॥८०॥

तब मन्त्री एवं पुरोहित—दोनों उसके दृढ़ विचार सुनकर दुखी हुए एवं म्लान मुख रोते हुए (कुछ दूर) उसके पीछे-पीछे गये । फिर हताश होकर शनैः-शनैः नगर की ही ओर चलने लगे ॥ ८० ॥

तत्स्नेहादथ नृपतेश्च भक्तितस्तौ सापेक्षं प्रतिययतुश्च तस्थतुश्च ।
दुर्धर्षं रविमिव दीप्तमात्मभासा तं द्रष्टुं न हि पथि शेकतुर्न मोक्तुम्॥८१॥

वे दोनों, उसके स्नेह से एवं राजा की भक्ति से सम्बद्ध होकर आगे गये (फिर) खड़े हुए । अपने प्रभाव से सूर्य सदृश उस दीप्तिमान् को रास्ते में न तो देखने में समर्थ हुए (और) न त्यागने में ॥ ८१ ॥

तौ ज्ञातुं परमगतेर्गतिं तु तस्य प्रच्छन्नांश्चरपुरुषाञ्छुचीन्विधाय ।
राजानं प्रियसुतलालसं नु गत्वा द्रक्ष्यावः कथमिति जग्मतुः कथंचित् ॥८२॥

इति श्रीअश्वघोषकृते पूर्वबुद्धचरितमहाकाव्ये
कुमारान्वेषणो नाम नवमः सर्गः ।

उस परम गतिशील की गति जानने के लिये विश्वासी गुप्तचरों को नियुक्त करके वे दोनों, प्रिय पुत्र में लालसा वाले राजा को (शीघ्र) जाकर कैसे देखें, इस अभिप्राय से कठिनाई से लौटे ॥ ८२ ॥

यह पूर्वबुद्धचरित महाकाव्य में कुमार-अन्वेषण नामक
नवम सर्ग समाप्त हुआ ।

अथ दशमः सर्गः

श्रेण्याभिगमनः

बिम्बसार का आगमन

स राजवत्सः पृथुपीनवक्षास्तौ हव्यमन्त्राधिकृतौ विहाय ।
उत्तीर्य गङ्गां प्रचलत्तरङ्गां श्रीमद् गृहं राजगृहं जगाम ॥ १ ॥

वह राजकुमार, जिसकी छाती चौड़ी एवं स्थूल है, पुरोहित एवं मन्त्री को छोड़कर चलायमान तरङ्गोंवाली गंगा को पार कर, लक्ष्मीसम्पन्न भवनों से युक्त राज-गृह को गया ॥ १ ॥

शैलैः सुगुप्तं च विभूषितं च धृतं च पूतं च शिवैस्तपोदैः ।
पञ्चाचलाङ्कं नगरं प्रपेदे शान्तः स्वयम्भूरिव नाकपृष्ठम् ॥ २ ॥

पर्वतों से सुरक्षित एवं सुशोभित, मंगलमय तप्तकुण्डों से युक्त एवं पवित्र पाँच-अचलों (पर्वतों) से चिह्नित नगर में शान्तचित्त उसने, स्वर्ग में ब्रह्मा की तरह, प्रवेश किया ॥ २ ॥

गाम्भीर्यमोजश्च निशाम्य तस्य वपुश्च दीप्तं पुरुषानतीत्य ।
विसिस्मिये तत्र जनस्तदानीं स्थाणुव्रतस्येव वृषध्वजस्य ॥ ३ ॥

स्थायी व्रती शिव के समान, उसके पुरुषों का अतिक्रमण करनेवाले गाम्भीर्य, प्रभाव, शरीर एवं तेज देखकर, वहाँ के लोग उस समय विस्मित हुए ॥ ३ ॥

तं प्रेक्ष्य योऽन्येन ययौ स तस्थौ यस्तत्र तस्थौ पथि सोऽन्वगच्छत् ।
द्रुतं ययौ यः स जगाम धीरं यः कश्चिदास्ते स्म स चोत्पपात ॥४॥

उसे देखकर, जो दूसरी ओर जा रहा था, रुक गया, जो रुका हुआ था, वह मार्ग में पीछे-पीछे गया, जो तेजी से जा रहा था, वह धीरे-धीरे चला एवं जो कोई बैठा था, वह उठकर खड़ा हो गया ॥ ४ ॥

कश्चित्तमानर्च जनः कराभ्यां सत्कृत्य कश्चिच्छिरसा ववन्दे ।
स्निग्धेन कश्चिद्वचसाभ्यनन्दन्नैनं जगामाप्रतिपूज्य कश्चित् ॥ ५ ॥

किसी ने हाथों से उसकी पूजा की, किसी ने सत्कार करके शिर से प्रणाम किया, किसी ने प्रिय वचन से अभिनन्दन किया। इसकी पूजा किए बिना कोई नहीं गया ॥ ५ ॥

तं जिह्रियुः प्रेक्ष्य विचित्रवेषाः प्रकीर्णवाचः पथि मौनमीयुः ।
धर्मस्य साक्षादिव संनिकर्षे न कश्चिदन्यायमतिर्बभूव ॥ ६ ॥

उसको देखकर चित्र-विचित्र वेषवाले लज्जित हुए। बहुत बात करनेवाले रास्ते में मौन हो गए। प्रत्यक्ष धर्म के समान, उसके निकट किसी की अन्याय बुद्धि नहीं हुई ॥ ६ ॥

अन्यक्रियाणामपि राजमार्गे स्त्रीणां नृणां वा बहुमानपूर्वम् ।
तं देवकल्पं नरदेवसूनुं निरीक्षमाणा न ततर्प दृष्टिः ॥ ७ ॥

विभिन्न कार्यों में लगे होने पर भी स्त्रियों व पुरुषों की दृष्टि राजमार्ग में देवता सदृश उस राजकुमारको अत्यन्त आदरसे देखती हुई तृप्त नहीं हुई ॥७॥

भ्रुवौ ललाटं मुखमीक्षणे वा वपुः करौ वा चरणौ गतिं वा ।
यदेव यस्तस्य ददर्श तत्र तदेव तस्याथ बबन्ध चक्षुः ॥ ८ ॥

उसकी भृकुटी, ललाट, मुख, नेत्र-शरीर, हाथ, पैर (चरण), गमन (इनमें) जो भी जिसने देखा, वहीं (उसी पर) उसकी दृष्टि बँध गई ॥८॥

दृष्ट्वा च सोर्णभ्रुवमायताक्षं ज्वलच्छरीरं शुभजालहस्तम् ।
तं भिक्षुवेषं क्षितिपालनार्हं संचुक्षुभे राजगृहस्य लक्ष्मीः ॥ ९ ॥

लोम बहुल भृकुटी, विशाल नयन, गौर शरीर, शुभ जाल (रेखा) युक्त हाथवाले उनको—'जो पृथ्वी-पालन में समर्थ होते हुए भी भिक्षु वेष में थे'—देखकर राज-गृह की लक्ष्मी क्षुभित हुई ॥ ९ ॥

श्रेण्योऽथ भर्ता मगधाजिरस्य बाह्याद्विमानाद्विपुलं जनौघम् ।
ददर्श पप्रच्छ च तस्य हेतुं ततस्तमस्मै पुरुषः शशंस ॥१०॥

तब मगध प्रान्त के राजा श्रेण्य (बिम्बसार) ने महल पर से देखा कि

बाहर (मार्ग में) विशाल जन समुदाय है, और उसका कारण पूछा। तब एक राज-पुरुष ने उसको बताया—॥ १० ॥

ज्ञानं परं वा पृथिवीश्रियं वा विप्रैर्य उक्तोऽधिगमिष्यतीति।
स एष शाक्याधिपतेस्तनूजो निरीक्ष्यते प्रव्रजितो जनेन ॥ ११ ॥

विप्रों ने जिसे बताया था कि या तो यह परम ज्ञान प्राप्त करेगा अथवा पृथ्वी की लक्ष्मी प्राप्त करेगा—वही यह शाक्यराज का पुत्र परिव्राजक हो गया है। लोग उसे देख रहे हैं ॥ ११ ॥

ततः श्रुतार्थो मनसागतास्थो राजा बभाषे पुरुषं तमेव।
विज्ञायतां क्व प्रतिगच्छतीति तथेत्यथैनं पुरुषोऽन्वगच्छत् ॥ १२ ॥

तब कारण सुनकर, मन से सम्मान करते हुए राजा ने उसी पुरुष से कहा—"पता लगाओ, कहाँ जा रहा है?" वह पुरुष "अच्छा"—ऐसा कह-कर उसके पीछे-पीछे गया ॥ १२ ॥

अलोलचक्षुर्युगमात्रदर्शी निवृत्तवाग्यन्त्रितमन्दगामी।
चचार भिक्षां स तु भिक्षुवर्यो निधाय गात्राणि चलं च चेतः ॥ १३ ॥

उसकी दृष्टि स्थिर थी, दो डग ही आगे देखता था, वाणी मौन थी, गति नियमित एवं मन्द थी। शरीर तथा चंचल चित्त को नम्र करके वह भिक्षुश्रेष्ठ भिक्षा माँग रहा था ॥ १३ ॥

आदाय भैक्षं च यथोपपन्नं ययौ गिरेः प्रस्रवणं विविक्तम्।
न्यायेन तत्राभ्यवहृत्य चैनन्महीधरं पाण्डवमारुरोह ॥ १४ ॥

भिक्षा में जो कुछ मिल गया उसे लेकर पर्वत के एकान्त निर्झर के पास गया और वहाँ उसे धर्मानुकूल खाकर पाण्डव पर्वत पर चढ़ गया ॥ १४ ॥

तस्मिन्नवौ लोध्रवनोपगूढे मयूरनादप्रतिपूर्णकुञ्जे।
काषायवासाः स बभौ नृसूर्यो यथोदयस्योपरि बालसूर्यः ॥ १५ ॥

काषायवस्त्रधारी वह नर-सूर्य लोध्रवन से व्याप्त एवं मयूरों के नाद से गुञ्जायमान लताभवन वाले उस पर्वत पर ऐसा सुशोभित हुआ मानो उदय-गिरि पर बाल-सूर्य हो ॥ १५ ॥

तत्रैनमालोक्य स राज्यभृत्यः श्रेण्याय राज्ञे कथयांचकार ।
संश्रुत्य राजा स च बाहुमान्यात्तत्र प्रतस्थे निभृतानुयात्रः ॥ १६ ॥

उस राज-पुरुष ने वहाँ उसे देख कर, राजा श्रेण्य को, आकर बताया । तथा उस राजा ने यह सुनकर, अत्यन्त आदर के कारण परिमित अनुचरों के साथ प्रस्थान किया ॥ १६ ॥

स पाण्डवं पाण्डवतुल्यवीर्यः शैलोत्तमं शैलसमानवर्ष्मा ।
मौलीधरः सिंहगतिर्नृसिंहश्चलत्सटः सिंह इवारुरोह ॥ १७ ॥

पाण्डवों के समान वीर्यवान्, शैल के समान (विशाल) शरीर वाला, मुकुटधारी, सिंह की गति वाला वह (राजा), पाण्डव नामक उत्तम पर्वत पर उस सिंह के समान चढ़ा जिसके केशर चंचल हैं ॥ १७ ॥

ततः स्म तस्योपरि शृङ्गभूतं शान्तेन्द्रियं पश्यति बोधिसत्त्वम् ।
पर्यङ्कमास्थाय विरोचमानं शशाङ्कमुद्यन्तमिवाभ्रकुञ्जात् ॥ १८ ॥

तब उस पर्वत के ऊपर, शिखर सदृश, पर्यङ्क आसन से बैठे हुए शान्त इन्द्रिय उस बोधिसत्त्व को उसी प्रकार चमकते हुए देखा जैसे मेघ-पटल से उगता हुआ चन्द्रमा चमकता है ॥ १८ ॥

तं रूपलक्ष्म्या च शमेन चैव धर्मस्य निर्माणमिवोपविष्टम् ।
सविस्मयः प्रश्रयवान्नरेन्द्रः स्वयम्भुवं शक्र इवोपतस्थे ॥ १९ ॥

रूप की शोभा तथा शान्ति के द्वारा, धर्म के निर्माण (मूर्ति) की तरह विराजमान उसके पास, राजा विस्मित होते हुए विनीत भाव से ऐसे गया जैसे ब्रह्मा के पास इन्द्र जा रहा हो ॥ १९ ॥

तं न्यायतो न्यायविदां वरिष्ठं समेत्य पप्रच्छ च धातुसाम्यम् ।
स चाप्यवोचत्सदृशेन साम्ना नृपं मनःस्वास्थ्यमनामयं च ॥२०॥

न्यायवेत्ताओं में वरिष्ठ उस (कुमार) के पास उचित रीति से जाकर (उससे) धातुसाम्य—आरोग्य पूछा और उससे भी राजा को यथायोग्य शान्त भाव से (अपनी) मानसिक शान्ति एवं आरोग्य बताये ॥ २० ॥

ततः शुचौ वारणकर्णनीले शिलातले संनिषसाद राजा।
उपोपविश्यानुमतश्च तस्य भावं विजिज्ञासुरिदं बभाषे॥ २१॥

तब राजा, हाथी के कान के समान नील वर्ण शिलातल पर—जो कि साफ था—बैठा। बैठकर एवं उससे आज्ञा पाकर, उसके भाव जानने की इच्छा से इस प्रकार बोला—॥ २१॥

प्रीतिः परा मे भवतः कुलेन क्रमागता चैव परीक्षिता च।
जाता विवक्षा स्ववयो यतो मे तस्मादिदं स्नेहवचो निबोध॥ २२॥

आपके कुल से परम्परागत एवं परीक्षित, मेरी बड़ी प्रीति है। अतः हे मित्र! (कुछ) बोलने की इच्छा हुई है। अतः यह स्नेह-युक्त वचन सुनिये।

आदित्यपूर्वं विपुलं कुलं ते नवं वयो दीप्तमिदं वपुश्च।
कस्मादियं ते मतिरक्रमेण भैक्षाक एवाभिरता न राज्ये॥ २३॥

आपका कुल महान है, सूर्य से प्रारंभ हुआ है। आपकी अवस्था नई है एवं यह शरीर भी देदीप्यमान है। किस कारण क्रम तोड़ कर आपकी मति भिक्षा में रमी (तथा) राज्य में न रमी॥ २३॥

गात्रं हि ते लोहितचन्दनार्हं काषायसंश्लेषमनर्हमेतत्।
हस्तः प्रजापालनयोग्य एष भोक्तुं न चार्हः परदत्तमन्नम्॥ २४॥

आपका गात्र तो रक्त चन्दन (लेप) के योग्य है, काषाय वस्त्र धारण करने योग्य नहीं है। एवं यह हाथ प्रजापालन के योग्य है, दूसरों का दिया हुआ अन्न खाने के योग्य नहीं है॥ २४॥

तत्सौम्य राज्यं यदि पैतृकं त्वं स्नेहात्पितुर्नेच्छसि विक्रमेण।
न च क्रमं मर्षयितुं मतिस्ते भुङ्क्ष्वार्धमस्मद्विषयस्य शीघ्रम्॥ २५॥

अतः हे सौम्य! यदि आप स्नेहवश पिता से पैतृक राज्य पराक्रम द्वारा नहीं लेना चाहते एवं क्रम को सहने में पिता के बाद राज्य प्राप्ति तक रुकने में आपकी मति समर्थ नहीं है तो शीघ्र ही मेरा आधा राज्य भोगिये॥ २५॥

एवं हि न स्यात्स्वजनावमर्दः कालक्रमेणापि शमश्रया श्रीः।
तस्मात्कुरुष्व प्रणयं मयि त्वं सद्भिः सहीया हि सतां समृद्धिः॥ २६॥

ऐसा करने से स्वजनों को अवमर्द (उत्पीड़न अथवा बन्धु विरोध) नहीं होगा एवं शांति का आश्रय लेनेवाली सम्पत्ति भी समय पर प्राप्त होगी। अतः हमारे साथ मैत्री कीजिए। सज्जनों की संगति से सज्जनों की ही समृद्धि होती है ।। २६ ।।

अथ त्विदानीं कुलगर्वितत्वादस्मासु विश्रम्भगुणो न तेऽस्ति।
व्यूढान्यनीकानि विगाह्य बाणैर्मया सहायेन परान् जिगीष ।।२७।।

यदि इस समय आपको अपने कुल के अभिमान के कारण मुझ पर विश्वास नहीं है तो मुझ सहायक के साथ प्रबल सेना में प्रवेश करके बाणों से शत्रुओं को जीतिये ।। २७ ।।

तद्बुद्धिमत्रान्यतरां वृणीष्व धर्मार्थकामान्विधिवद्भजस्व ।
व्यत्यस्य रागादिह हि त्रिवर्गं प्रेत्येह च भ्रंशमवाप्नुवन्ति ।। २८ ।।

अतः दो में से एक बुद्धि स्थिर कीजिए। धर्म-अर्थ-कामों का विधिवत् सेवन कीजिये, क्योंकि रागवश त्रिवर्ग का व्यतिक्रम करनेवालों का परलोक एवं इस लोक में भी पतन होता है ।। २८ ।।

यो ह्यर्थधर्मौ परिपीड्य कामः स्याद्धर्मकामौ परिभूय चार्थः ।
कामार्थयोश्चोपरमेण धर्मस्त्याज्यः स कृत्स्नो यदि कांक्षितोऽर्थः ।।२९।।

अर्थ एवं धर्म को पीड़ित करके जो काम होता है तथा धर्म और काम को पराजित करके जो अर्थ होता है एवं काम व अर्थ को नष्ट करके जो धर्म होता है—वह त्याज्य है, यदि सम्पूर्ण अर्थ (प्रयोजन) की सिद्धि अभिलषित है तो ।। २९ ।।

तस्मात्त्रिवर्गस्य निषेवणेन त्वं रूपमेतत्सफलं कुरुष्व ।
धर्मार्थकामाधिगमं ह्यनूनं नृणामनूनं पुरुषार्थमाहुः ।। ३० ।।

अतः त्रिवर्ग का सेवन करके आप इस रूप को सफल करें, क्योंकि धर्म, अर्थ एवं काम की सम्पूर्ण रूप से प्राप्ति ही मनुष्यों का सम्पूर्ण पुरुषार्थ कहा है ।। ३० ।।

तन्निष्फलौ नार्हसि कर्तुमेतौ पीनौ भुजौ चापविकर्षणार्हौ ।
मान्धातृवज्जेतुमिमौ हि योग्यौ लोकानपि त्रीनिह किं पुनर्गाम् ।।३१।।

अतः आप, धनुष चढ़ाने योग्य इन मोटी भुजाओं को व्यर्थ न करें। ये (भुजाएँ) मांधाता के समान तीनों लोक जीतने के योग्य हैं फिर पृथ्वी की तो बात ही क्या ? ॥ ३१ ॥

स्नेहेन खल्वेतदहं ब्रवीमि नैश्वर्यरागेण न विस्मयेन ।
इमं हि दृष्ट्वा तव भिक्षुवेषं जातानुकम्पोऽस्म्यपि चागताश्रुः ॥ ३२ ॥

निश्चय ही मैं स्नेह से यह कह रहा हूँ, ऐश्वर्य के राग से नहीं, और न अभिमान से। आपका यह भिक्षु-वेष देख कर मुझे दया आती है एवं आँसू आ गये हैं ॥ ३२ ॥

यावत्स्ववंशप्रतिरूप ! रूपं न ते जराभ्येत्यभिभूय भूयः ।
तद्भुङ्क्ष्व भिक्षाश्रमकाम ! कामान् कालेऽसि कर्ता प्रियधर्म ! धर्मम् ॥३३॥

हे अपने वंश की प्रतिकृति ! आपके रूप को दबाकर वृद्धावस्था जब तक पुनः नहीं आती है तब तक, हे भिक्षा आश्रम के इच्छुक ! विषयों को भोगिये। हे धर्म-प्रिय ! समय पर धर्म कीजिये ॥ ३३ ॥

शक्नोति जीर्णः खलु धर्ममाप्तुं कामोपभोगेष्वगतिर्जरायाः ।
अतश्च यूनः कथयन्ति कामान्मध्यस्य वित्तं स्थविराय धर्मम् ॥३४॥

बूढ़ा (आदमी) धर्म प्राप्त कर सकता है। कामोपभोगों में बुढ़ापे की गति नहीं है। अतः युवा के लिये काम, मध्य के लिये धन एवं वृद्ध के लिये धर्म —(इस प्रकार) कहते हैं ॥ ३४ ॥

धर्मस्य चार्थस्य च जीवलोके प्रत्यर्थिभूतानि हि यौवनानि ।
संरक्ष्यमाणान्यपि दुर्ग्रहाणि कामा यतस्तेन पथा हरन्ति ॥ ३५ ॥

संसार में यौवन धर्म एवं अर्थ का शत्रु है। प्रयत्नपूर्वक रक्षा करने पर भी उन्हें (धर्म तथा अर्थ को) बचाना कठिन है। क्योंकि काम उसी मार्ग (विषय भोग) से उन्हें हर लेता है ॥ ३५ ॥

वयांसि जीर्णानि विमर्शवन्ति धीराण्यवस्थानपरायणानि ।
अल्पेन यत्नेन शमात्मकानि भवन्त्यगत्यैव च लज्जया च ॥ ३६ ॥

जरा अवस्था विचारशील, धीर तथा स्थिर आश्रयवाली होती है। लाचारी तथा लज्जा के कारण थोड़े प्रयत्न से ही शान्ति प्राप्त होती है ॥ ३६ ॥

अतश्च लोलं विषयप्रधानं प्रमत्तमक्षान्तमदीर्घदर्शी ।
बहुच्छलं यौवनमभ्यतीत्य निस्तीर्य कान्तारमिवाश्वसन्ति ॥ ३७ ॥

अतः चपल, विषयप्रधान, मदान्ध, अधीर, अदूरदर्शी एवं बहुत कपटी यौवन (युवावस्था) को पार करके लोग आश्वासन (विश्राम) पाते हैं जैसे जंगल को पार करने पर विश्राम मिलता है ॥ ३७ ॥

तस्मादधीरं चपलप्रमादि नवं वयस्तावदिदं व्यपैतु ।
कामस्य पूर्वं हि वयः शरव्यं न शक्यते रक्षितुमिन्द्रियेभ्यः ॥ ३८ ॥

अतः उद्धत, चञ्चल एवं प्रमादी यह नई अवस्था तब तक बीत जाय, क्योंकि नई जवानी ही कामदेव का लक्ष्य (निशाना) है । इन्द्रियों से इसकी (जवानी की) रक्षा करना अशक्य है ॥ ३८ ॥

अथो चिकीर्षा तव धर्म एव यजस्व यज्ञं कुलधर्म एषः ।
यज्ञैरधिष्ठाय हि नागपृष्ठं ययौ मरुत्वानपि नाकपृष्ठम् ॥ ३९ ॥

यदि आपको धर्म ही करना है तो यज्ञ कीजिये । यज्ञ करना आपका कुल-धर्म है । यज्ञ करके इन्द्र, हाथी की पीठ पर बैठकर स्वर्ग को गया था ॥ ३९ ॥

सुवर्णकेयूरविदष्टबाहवो मणिप्रदीपोज्ज्वलचित्रमौलयः ।
नृपर्षयस्तां हि गतिं गता मखैः श्रमेण यामेव महर्षयो ययुः ॥४०॥

स्वर्ण के केयूरों से सम्पन्न भुजाओं वाले, मणि रूप प्रदीप से उज्ज्वल एवं चित्र-विचित्र मुकुट वाले राजर्षि गण यज्ञ के द्वारा उसी गति को प्राप्त हुए जिस गति को महर्षि गण श्रम (कठिन तपस्या) से प्राप्त हुए हैं ॥ ४० ॥

इत्येवं मगधपतिर्वचो बभाषे यः सम्यग्वलभिदिव ब्रुवन् बभासे ।
तच्छ्रुत्वा न स विचचाल राजसूनुः कैलासो गिरिरिव नैकचित्रसानुः ॥४१॥

इति श्रीअश्वघोषकृते पूर्वबुद्धचरितमहाकाव्ये
श्रेण्याभिगमनो नाम दशमः सर्गः ।

मगधके अधिपति ने इस प्रकार वचन कहा । अच्छी तरह बोलते हुए वह, इन्द्र के समान शोभित हुआ । चित्र-विचित्र शिखर वाला, कैलास पर्वत के समान (अटल) वह राजकुमार, उसकी बातें सुनकर विचलित नहीं हुआ ॥४१॥

यह पूर्वबुद्धचरित महाकाव्य में 'बिम्बसार का आगमन' नामक
दशम सर्ग समाप्त हुआ ।

अथ एकादशः सर्गः

कामविगर्हणः

काम-निन्दा

अथैवमुक्तो मगधाधिपेन सुहृन्मुखेन प्रतिकूलमर्थम् ।
स्वस्थोऽविकारः कुलशौचशुद्धः शौद्धोदनिर्वाक्यमिदं जगाद ॥ १ ॥

इसके बाद प्रमुख मित्र मगधराज (बिम्बसार) ने जब इस प्रकार के प्रतिकूल वचन कहे, तब कुल एवं (निज) आचरण से भी शुद्ध शुद्धोदन के पुत्र ने अक्षुब्ध एवं अचल भाव से यह कहा ॥ १ ॥

नाश्चर्यमेतद्भवतोऽभिधातुं जातस्य हर्यङ्ककुले विशाले ।
यन्मित्रपक्षे तव मित्रकाम स्याद् वृत्तिरेषा परिशुद्धवृत्तेः ॥ १ ॥

विशाल चन्द्र वंश में उत्पन्न हुए आपके लिये 'ऐसा' कहना आश्चर्यजनक नहीं, क्योंकि हे मित्रकामी ! विशुद्ध व्यवहार वाले आपकी (मुझ) मित्र के पक्ष में ऐसी भावना है ॥ २ ॥

असत्सु मैत्री स्वकुलानुवृत्ता न तिष्ठति श्रीरिव विक्लवेषु ।
पूर्वैः कृतां प्रीतिपरम्पराभिस्तामेव सन्तस्तु विवर्धयन्ति ॥ ३ ॥

अपनी कुल-परम्परा से आने वाली मैत्री असज्जनों में नहीं टिकती है—जिस प्रकार लक्ष्मी चल चित्त वालों में नहीं टिकती । किन्तु पूर्वजों द्वारा की हुई उसी मैत्री को सज्जन-गण प्रतिदिन की परम्परा से बढ़ा लेते हैं ॥ ३ ॥

ये चार्थकृच्छ्रेषु भवन्ति लोके समानकार्याः सुहृदां मनुष्याः ।
मित्राणि तानीति परैमि बुद्ध्या स्वस्थस्य वृद्धिष्विह को हि न स्यात् ॥४॥

संसार में जो मनुष्य धन क्षीण होने पर मित्रों के समान सहायक होते हैं, उन्हीं को मैं अपनी बुद्धि के अनुसार मित्र समझता हूँ । सम्पन्न व्यक्ति की बढ़ती (उन्नति) में कौन साथी नहीं होता ? ॥ ४ ॥

एवं च ये द्रव्यमवाप्य लोके मित्रेषु धर्मे च नियोजयन्ति ।
अवाप्तसाराणि धनानि तेषां भ्रष्टानि नान्ते जनयन्ति तापम् ॥ ५ ॥

इस प्रकार धन पाकर मित्रों में एवं धर्म में लगाते हैं। उनके वे सफल धन अन्त में नष्ट होने पर सन्ताप पैदा नहीं करते हैं ॥ ५ ॥

सुहृत्तया चार्यतया च राजन् खल्वेष यो मां प्रति निश्चयस्ते ।
अत्रानुनेष्यामि सुहृत्तयैव ब्रूयामहं नोत्तरमन्यदत्र ॥ ६ ॥

हे राजन्! मित्रता एवं सज्जनता के कारण मेरे प्रति आपका जो यह निश्चय हुआ है, इस विषय में मित्रता से ही मैं अनुनय करूंगा, इसमें दूसरा उत्तर कुछ नहीं दूंगा ॥ ६ ॥

अहं जरामृत्युभयं विदित्वा मुमुक्षया धर्ममिमं प्रपन्नः ।
बन्धून् प्रियानश्रुमुखान्विहाय प्रागेव कामानशुभस्य हेतून् ॥ ७ ॥

मैं जरा एवं मृत्यु का भय जानकर मोक्ष की इच्छा से इस धर्म की शरण में आया हूँ। पहिले अशुभ के हेतुभूत कामों को, बाद में रोते हुए बन्धुओं को छोड़कर आया हूँ ॥ ७ ॥

नाशीविषेभ्यो हि तथा बिभेमि नैवाशनिभ्यो गगनाच्च्युतेभ्यः ।
न पावकेभ्योऽनिलसंहितेभ्यो यथा भयं मे विषयेभ्य एव ॥८॥

मैं विषधरों से उतना नहीं डरता हूँ और न आकाश से (आकर) गिरे हुए वज्रों से और न वायुमिश्रित अग्नि से उतना डरता हूं जितना कि विषयों से डरता हूँ ॥ ८ ॥

कामा ह्यनित्याः कुशलार्थचौरा रिक्ताश्च मायासदृशाश्च लोके ।
आशास्यमाना अपि मोहयन्ति चित्तं नृणां किं पुनरात्मसंस्थाः ॥९॥

काम (विषय) अनित्य हैं, ज्ञान रूप धन के चोर हैं, पोले हैं, माया सदृश हैं एवं संसार में उसकी आशा करने पर भी मनुष्यों के मन को मोह में डाल देते हैं। (फिर) यदि अन्दर स्थिर हों तो क्या कहना है? ॥ ९ ॥

कामाभिभूता हि न यान्ति शर्म त्रिपिष्टपे किं बत मर्त्यलोके ।
कामैः सतृष्णस्य हि नास्ति तृप्तिर्यथेन्धनैर्वातसखस्य वह्नेः ॥ १० ॥

कामासक्त पुरुषों को मृत्यु लोक में क्या स्वर्ग में भी शांति नहीं मिलती है। विषय तृषित व्यक्ति को विषयों से उसी प्रकार तृप्ति नहीं होती जिस प्रकार पवन के साथ अग्नि को इन्धन से (तृप्ति नहीं होती) ॥ १० ॥

जगत्यनर्थो न समोऽस्ति कामैर्मोहाच्च तेष्वेव जनः प्रसक्तः।
तत्त्वं विदित्वैवमनर्थभीरुः प्राज्ञः स्वयं कोऽभिलषेदनर्थम् ॥११॥

संसार में काम (विषय) के समान अनर्थ दूसरा नहीं। किन्तु मोह के कारण लोग उसी में आसक्त हैं। तत्त्व (इस रहस्य) को जानकर, अनर्थ से डरने वाला कौन बुद्धिमान स्वयं इस अनर्थ की इच्छा करे ? ॥ ११ ॥

समुद्रवस्त्रामपि गामवाप्य पारं जिगीषन्ति महार्णवस्य।
लोकस्य कामैर्न वितृप्तिरस्ति पतद्भिरम्भोभिरिवार्णवस्य ॥ १२ ॥

समुद्रवसना (समुद्र पर्यन्त) पृथ्वी (राज्य) को पाकर भी लोग महासागर के पार को जीतना चाहते हैं, प्राणी को काम (उपभोग) से तृप्ति नहीं होती—जैसे (असंख्य नदियों के) गिरते हुए जल-प्रवाह से समुद्र को ॥ १२ ॥

देवेन वृष्टेऽपि हिरण्यवर्षे द्वीपान् समग्रांश्चतुरोऽपि जित्वा।
शक्रस्य चार्धासनमप्यवाप्य मान्धातुरासीद्विषयेष्वतृप्तिः ॥ १३ ॥

देव द्वारा स्वर्ण वर्षा होने पर भी एवं चारों सम्पूर्ण द्वीपों को जीत लेने पर भी और इन्द्र का आधा आसन पाने पर भी मान्धाता को तृप्ति नहीं हुई थी ॥ १३ ॥

भुक्त्वापि राज्यं दिवि देवतानां शतक्रतौ वृत्रभयात्प्रनष्टे।
दर्पान्महर्षीनपि वाहयित्वा कामेष्वतृप्तो नहुषः पपात ॥ १४ ॥

जब वृत्र के भय से इन्द्र छिप गया था, तब स्वर्ग में देवताओं का राज्य भोगने पर भी नहुष अभिमान के कारण महर्षियों से अपनी पालकी उठवाकर (स्वर्ग से) गिर पड़ा (फिर भी) विषय तृप्ति नहीं हुई ॥ १४ ॥

ऐडश्च राजा त्रिदिवं विगाह्य नीत्वापि देवीं वशमुर्वशीं ताम्।
लोभादृषिभ्यः कनकं जिहीर्षुर्जगाम नाशं विषयेष्वतृप्तः ॥ १५ ॥

तथा राजा ऐड (इडा का पुत्र पुरूरवा) स्वर्ग जाकर, उस उर्वशी देवी को वश में करके भी विषयों से तृप्त नहीं हुआ और लोभवश ऋषियों से स्वर्ण अपहरण करने की इच्छा से नाश को प्राप्त हुआ ॥ १५ ॥

बलेर्महेन्द्रं नहुषं महेन्द्रादिन्द्रं पुनर्ये नहुषादुपेयुः ।
स्वर्गे क्षितौ वा विषयेषु तेषु को विश्वसेद्भाग्यकुलाकुलेषु ॥ १६ ॥

जो विषय (राज्य) बलि से महेन्द्र को, महेन्द्र से नहुष को, फिर नहुष से महेन्द्र को प्राप्त हुए, भाग्यकुल (भाग्य-समूह) को आकुल (विक्षिप्त) करने वाले उन विषयों में स्वर्ग अथवा पृथ्वी पर कौन विश्वास करे ? ॥ १६ ॥

चीराम्बरा मूलफलाम्बुभक्षा जटा वहन्तोऽपि भुजङ्गदीर्घाः ।
यैर्नान्यकार्या मुनयोऽपि भग्नाः कः कामसंज्ञान्मृगयेत शत्रून् ॥१७॥

वल्कल वस्त्रधारी, मूल-फल-जल आहारी, भुजङ्ग सदृश (लम्बी) जटाधारी जिन्हें तप के अतिरिक्त दूसरा कार्य नहीं—उन मुनियों के द्वारा भी भग्न (त्याग) किये गये काम नाम के शत्रुओं को कौन ढूंढे ॥ १७ ॥

उग्रायुधश्चोग्रधृतायुधोऽपि येषां कृते मृत्युमवाप भीष्मात् ।
चिन्तापि तेषामशिवा वधाय सद्वृत्तिनां किं पुनरव्रतानाम् ॥ १८ ॥

तीक्ष्ण शस्त्रधारी 'उग्रायुध' (राजा) जो विषयों के कारण भीष्म (पितामह) से मृत्यु को प्राप्त हुआ उन (विषयों) की चिन्ता (मन से सोचना भी) अमङ्गल (पाप) है और सदाचारियों के लिये भी घातक है । फिर असंयमियों का तो कहना ही क्या है ? ॥ १८ ॥

आस्वादमल्पं विषयेषु मत्वा संयोजनोत्कर्षमतृप्तिमेव ।
सद्भ्यश्च गर्हां नियतं च पापं कः कामसंज्ञं विषमाददीत ॥ १९ ॥

विषयों में स्वाद अल्प है, बन्धन अधिक है, तृप्ति बिलकुल नहीं, सज्जनों द्वारा गर्हित है एवं पाप नियत है—ऐसा समझ कर कौन काम नामक 'विष' को ग्रहण करेगा ? ॥ १९ ॥

कृष्यादिभिः कर्मभिरर्दितानां कामात्मकानां च निशाम्य दुःखम् ।
स्वास्थ्यं च कामेष्वकुतूहलानां कामान्विहातुं क्षममात्मवद्भिः ॥२०॥

कृषि आदि (क्लिष्ट) कर्मों से पीड़ित कामासक्त लोगों के दुःख देखकर एवं विषयों में अनासक्तों के स्वास्थ्य (सुख-शान्ति) देख कर ज्ञानी पुरुषों को काम का त्याग करना चाहिये ॥ २० ॥

ज्ञेया विपत्कामिनि कामसंपत्सिद्धेषु कामेषु मदं ह्युपैति।
मदादकार्यं कुरुते न कार्यं येन क्षतो दुर्गतिमभ्युपैति ॥ २१ ॥

कामी पुरुष में काम रूप सम्पत्ति (भोग-सामग्री) को विपत्ति समझना चाहिये। क्योंकि काम के सिद्ध होने पर मद होता है। मदान्ध पुरुष अकार्य करता है (शुभ) कार्य नहीं करता। जिससे नष्ट होकर दुर्गति को प्राप्त होता है ॥ २१ ॥

यत्नेन लब्धाः परिरक्षिताश्च ये विप्रलभ्य प्रतियान्ति भूयः।
तेष्वात्मवान्याचितकोपमेषु कामेषु विद्वानिह को रमेत ॥ २२ ॥

प्रयत्न से पाने एवं रक्षा करने पर भी जो (काम) ठगकर पुनः चले जाते हैं अतः मंगनी या मंगौती मांगी हुई वस्तु के समान उन विषयों में यहाँ कौन संयमी विद्वान् रमेगा ॥ २२ ॥

अन्विष्य चादाय च जाततर्षा यानत्यजन्तः परियान्ति दुःखम्।
लोके तृणोल्कासदृशेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥२३॥

जिन (विषयों) को ढूँढ़कर और पाकर उत्तरोत्तर भोग लालसा होती है एवं जिन (विषयों) को न छोड़ने वाले दुःख पाते हैं—संसार में तृणों की उल्का के समान उन विषयों में, किस आत्मवान् को रति होगी ? ॥ २३ ॥

अनात्मवन्तो हृदि यैर्विदष्टा विनाशमर्छन्ति न यान्ति शर्म।
क्रुद्धोग्रसर्पप्रतिमेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥ २४ ॥

जिन (विषयों) के द्वारा हृदय में डसे जाने पर अज्ञानी लोग विनष्ट हो जाते हैं और शान्ति नहीं पाते हैं, कुपित भयंकर सर्प सदृश उन विषयों में किस आत्मवेत्ता को प्रेम होगा ? ॥ २४ ॥

अस्थि क्षुधार्ता इव सारमेया भुक्त्वापि यान्नैव भवन्ति तृप्ताः।
जीर्णास्थिकङ्कालसमेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥ २५ ॥

जैसे भूखे कुत्ते हड्डी चबाकर तृप्त नहीं होते, उसी प्रकार जिन (विषयों) को भोगकर भी (लोग) तृप्त नहीं होते—उन पुरानी हड्डी के कंकाल के समान विषयों में किस जितेन्द्रिय को राग होगा ? ॥ २५ ॥

ये राजचौरोदकपावकेभ्यः साधारणत्वाज्जनयन्ति दुःखम् ।
तेषु प्रविद्धामिषसंनिभेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥ २६ ॥

जो (विषय) राजा, चोर, जल एवं अग्नि से साधारणतया (अनायास) दुःख उत्पन्न करते हैं—उन झूठे मांस के टुकड़े के समान कामों में किस आत्मवान् को सुख होगा ? ॥ २६ ॥

यत्र स्थितानामभितो विपत्तिः शत्रोः सकाशादपि बान्धवेभ्यः ।
हिंस्रेषु तेष्वायतनोपमेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥२७॥

जिनमें रहने वालों को शत्रुओं से एवं बान्धवों से भी चारों ओर से विपत्ति है—उन हिंसा के आयतन (वध स्थान) के समान कामों में किस आत्मवान् को आनन्द होगा ? ॥ २७ ॥

गिरौ वने चाप्सु च सागरे च यान् भ्रंशमर्छन्ति विलङ्घमानाः ।
तेषु द्रुमप्राग्रफलोपमेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥२८॥

पर्वत पर, वन में, जल में, समुद्र में, जिन विषयों के लिये दौड़ लगाते हुए भ्रष्ट होते हैं—वृक्ष के अग्रभाग में स्थित फल के समान उन विषयों में किस विद्वान् को आनन्द आवेगा ? ॥ २८ ॥

तीव्रैः प्रयत्नैर्विविधैरवाप्ताः क्षणेन ये नाशमिह प्रयान्ति ।
स्वप्नोपभोगप्रतिमेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥ २९ ॥

जो विविध तीव्र प्रयत्न से प्राप्त होकर भी क्षण भर में यहीं नष्ट हो जाता है—स्वप्न के उपभोग के समान उन विषयों में किस आत्मवान् को आनन्द आवेगा ? ॥ २९ ॥

यानर्जयित्वापि न यान्ति शर्म विवर्धयित्वा परिपालयित्वा ।
अङ्गारकर्षूप्रतिमेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥ ३० ॥

जिनको अर्जन कर, बढ़ाकर तथा पालन करके भी (लोग) कल्याण

नहीं पाते हैं—अँगारे की अङ्गीठी के समान उन कामों में किस संयमी को सुख होगा ॥ ३० ॥

विनाशमीयुः कुरवो यदर्थं वृष्ण्यन्धका मेखलदण्डकाश्च।
सूनासिकाष्ठप्रतिमेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥ ३१ ॥

जिनके निमित्त कौरव, वृष्णि, अन्धक, मेखल, तथा दण्डक नाश को प्राप्त हुए—हत्या करनेवाली तलवार व काष्ठ के समान उन विषयों में कौन आत्मवान् रमेगा ॥ ३१ ॥

सुन्दोपसुन्दावसुरौ यदर्थमन्योन्यवैरप्रसृतौ विनष्टौ।
सौहार्दविश्लेषकरेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥ ३२ ॥

जिनके कारण वैर बढ़ाकर सुन्दर एवं उपसुन्द नामक असुर नष्ट हो गये, सुहृदयता को तोड़ देने वाले उन विषयों में किस आत्मवान् को सुख होगा ।३२।

येषां कृते वारिणि पावके च क्रव्यात्सु चात्मानमिहोत्सृजन्ति।
सपत्नभूतेष्वशिवेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥३३॥

जिनकी प्राप्ति के निमित्त लोग अपने को जल में, अग्नि में, हिंसक जीवों में डाल देते हैं—शत्रु की भाँति अशुभकारी उन विषयों में किस आत्मवान् को सुख होगा ॥ ३३ ॥

कामार्थमज्ञः कृपणं करोति प्राप्नोति दुःखं वधबन्धनादि।
कामार्थमाशाकृपणस्तपस्वी मृत्युं श्रमं चार्छति जीवलोकः ॥ ३४ ॥

अज्ञानी (पुरुष) विषय के निमित्त नाचा करता है और मारा जाता है, बन्धन आदि दुःख पाता है। बेचारा (यह) जीवलोक, विषय के लिए तृषित दीन हीन होकर क्षीणता एवं मृत्यु पाता है ॥ ३४ ॥

गीतैर्ह्रियन्ते हि मृगा वधाय रूपार्थमग्नौ शलभाः पतन्ति।
मत्स्यो गिरत्यायसमामिषार्थी तस्मादनर्थं विषयाः फलन्ति ॥ ३५ ॥

गीतों से हिरण, वध के लिये फुसलाये जाते हैं। रूप के निमित्त पतंगे अग्नि में गिरते हैं। मांस के लिये मछली, लोहे का काँटा लील जाती है। अतः विषयों का फल विपत्ति है ॥ ३५ ॥

कामास्तु भोगा इति यन्मतिः स्याद्भोगा न केचित्परिगण्यमानाः ।
वस्त्रादयो द्रव्यगुणा हि लोके दुःखप्रतीकार इति प्रधार्याः ॥ ३६ ॥

'विषय, भोग (के लिये) हैं' ऐसी जो बुद्धि है (वह अज्ञानी की है । विचारवान्) तो भोग नहीं है—'ऐसा समझते हुए, 'वस्त्रादि, गुण द्रव्य तो दुःख के प्रतिकार हैं—' ऐसा समझते हैं ॥ ३६ ॥

इष्टं हि तर्षप्रशमाय तोयं क्षुन्नाशहेतोरशनं तथैव ।
वातातपाम्ब्वावरणाय वेश्म कौपीनशीतावरणाय वासः ॥ ३७ ॥

जैसे प्यास शान्त करने के लिये जल इष्ट (अभिप्रेत) है—उसी प्रकार क्षुधा शान्ति के लिये भोजन, बात, धूप, वर्षा से बचावके लिये मकान, तथा शीत निवारण एवं लंगोटे के लिये वस्त्र इष्ट है ॥ ३७ ॥

निद्राविघाताय तथैव शय्या यानं तथाध्वश्रमनाशनाय ।
तथासनं स्थानविनोदनाय स्नानं मृजारोग्यबलाश्रयाय ॥ ३८ ॥

उसी तरह निद्रा की शान्ति के लिये शय्या, मार्ग का श्रम दूर करने के लिये वाहन, उत्थान मिटाने के लिये आसन तथा शरीर धोने व आरोग्य एवं बल-प्राप्ति के लिए स्नान (इष्ट) है ॥ ३८ ॥

दुःखप्रतीकारनिमित्तभूतास्तस्मात्प्रजानां विषया न भोगाः ।
अश्नामि भोगानिति कोऽभ्युपेयात्प्राज्ञः प्रतीकारविधौ प्रवृत्तः ॥३९॥

अतः (स्वाभाविक) दुःखों के प्रतिकार के कारण स्वरूप विषय (वस्त्रादि) लोगों के भोग नहीं है । दुःखों को दूर करने में प्रवृत्त कौन विद्वान् 'मैं भोग भोग रहा हूँ—'ऐसा समझेगा ॥ ३९ ॥

यः पित्तदाहेन विदह्यमानः शीतक्रियां भोग इति व्यवस्येत् ।
दुःखप्रतीकारविधौ प्रवृत्तः कामेषु कुर्यात्स हि भोगसंज्ञाम् ॥ ४० ॥

जो पित्तज्वर से जलते हुए, शीत उपचार का भोग समझता है, दुःख के प्रतीकार के साधन में लगा हुआ वही पुरुष विषयों में भोग नाम देगा ॥ ४० ॥

कामेष्वनैकान्तिकता च यस्मादतोऽपि मे तेषु न भोगसंज्ञा ।
य एव भावा हि सुखं दिशन्ति त एव दुःखं पुनरावहन्ति ॥ ४१ ॥

(क्योंकि) कामों (विषयों) में एकत्व नहीं है (अनन्तता है), इसलिये भी मेरे विचार से विषयों में योग 'संज्ञा' नहीं है। जो पदार्थ सुख देते हैं, वही पुनः दुःख देते हैं ॥ ४१ ॥

गुरूणि वासांस्यगुरूणि चैव सुखाय शीते ह्यसुखाय घर्मे ।
चन्द्रांशवश्चन्दनमेव चोष्णे सुखाय दुःखाय भवन्ति शीते ॥ ४२ ॥

क्योंकि वजनदार वस्त्र और अगुरु (गूगल) जाड़े में सुखदायी एवं गर्मी में दुःखदायी होते हैं (इसके विपरीत) चन्द्रकिरण एवं चन्दन गर्मी में सुखद तथा जाड़े में दुःखद होते हैं ॥ ४२ ॥

द्वन्द्वानि सर्वस्य यतः प्रसक्तान्यलाभलाभप्रभृतीनि लोके ।
अतोऽपि नैकान्तसुखोऽस्ति कश्चिन्नैकान्तदुःखः पुरुषः पृथिव्याम् ॥४३॥

अतः हानि एवं लाभ आदि द्वन्द्व सबके साथ चिपके हुए हैं, इसलिये भी संसार में न कोई पुरुष अत्यन्त सुखी है अथवा न अत्यन्त दुःखी ॥ ४३ ॥

दृष्ट्वा विमिश्रां सुखदुःखतां मे राज्यं च दास्यं च मतं समानम् ।
नित्यं हसत्येव हि नैव राजा न चापि संतप्यत एव दासः ॥४४॥

सुख और दुःख को (परस्पर) मिश्रित देखकर, राज्य एवं दासता को मैं समान मानता हूँ। न तो राजा ही सदा हँसता रहता है और न दास ही सदा सन्तप्त रहता है ॥ ४४ ॥

आज्ञा नृपत्वेऽभ्यधिकेति यत्स्यान्महान्ति दुःखान्यत एव राज्ञः ।
आसङ्गकाष्ठप्रतिमो हि राजा लोकस्य हेतोः परिखेदमेति ॥४५॥

राजापन में आज्ञा अधिक है, अत एव राजा को बड़े-बड़े दुःख होते हैं। प्रवाह में निराधार बहने वाले, काष्ठ के समान राजा लोक (प्रजा) के लिये परिखिन्न रहता है ॥ ४५ ॥

राज्ये नृपस्त्यागिनि बह्वमित्रे विश्वासमागच्छति चेद्विपन्नः ।
अथापि विश्रम्भमुपैति नेह किं नाम सौख्यं चकितस्य राज्ञः ॥४६॥

त्याग देनेवाला (एक दिन छोड़ देने वाला) तथा बहुत शत्रुवाले यदि राज्य में विश्वास करता है तो विपत्ति में पड़ता है, और यदि उसमें विश्वास नहीं करता तो शंकित राजा को क्या सुख ॥ ४६ ॥

यदा च जित्वापि महीं समग्रां वासाय दृष्टं पुरमेकमेव।
तत्रापि चैकं भवनं निषेव्यं श्रमः परार्थे ननु राजभावः ॥ ४७ ॥

जब कि सम्पूर्ण पृथ्वी की विजय प्राप्त करके भी अपने निवास के लिये एक ही पुर ढूँढ़ता है और वहाँ भी एक ही महल में रहना पड़ता है तो अवश्य ही राजत्व दूसरों के लिये श्रम (मात्र) है ॥ ४७ ॥

राज्ञोऽपि वासोयुगमेकमेव क्षुत्संनिरोधाय तथान्नमात्रा।
शय्या तथैकासनमेकमेव शेषा विशेषा नृपतेर्मदाय ॥ ४८ ॥

और भी, राजा के लिये एक ही जोड़ा वस्त्र, उसी तरह क्षुधा-निवृत्ति के लिये अन्न की (कुछ) मात्रा, उसी प्रकार एक शय्या एवं एक ही आसन (आवश्यक है) राजा की शेष विशेषतायें तो मद के लिये हैं ॥ ४८ ॥

तुष्ट्यर्थमेतच्च फलं यदीष्टमृतेऽपि राज्यान्मम तुष्टिरस्ति।
तुष्टौ च सत्यां पुरुषस्य लोके सर्वे विशेषा ननु निर्विशेषाः ॥ ४९ ॥

और यदि तुष्टि के लिये यह फल (राज्य) आवश्यक है तो राज्य के बिना भी मुझे तुष्टि है। मनुष्य को संतोष हो जाने पर संसार में सब विशेषताएँ निरर्थक हो जाती हैं ॥ ४९ ॥

तन्नास्मि कामान् प्रति संप्रतार्यः क्षेमं शि ं मार्गमनुप्रपन्नः।
स्मृत्वा सुहृत्त्वं तु पुनः पुनर्मां ब्रूहि प्रतिज्ञां खलु पालयेति ॥ ५० ॥

अतः कल्याण एवं मङ्गलमय मार्ग में प्रवृत्त हुआ मैं, कामों के प्रति बहकाया नहीं जा सकता हूँ। मित्रत्व का स्मरण करके आप मुझसे बारम्बार यह कहें—'तुम अवश्य प्रतिज्ञा पालन करो' ॥ ५० ॥

न ह्यस्म्यमर्षेण वनं प्रविष्टो न शत्रुबाणैरवधूतमौलिः।
कृतस्पृहो नापि फलाधिकेभ्यो गृह्णामि नैतद्वचनं यतस्ते ॥ ५१ ॥

न तो मैं क्रोध से वन में आया हूँ, न शत्रु के बाणों से मुकुट गिराये जाने पर और न कोई फल विशेष की इच्छा से। अतः आपकी बात नहीं मान रहा हूँ ॥ ५१ ॥

यो दन्दशूकं कुपितं भुजङ्गं मुक्त्वा व्यवस्येद्धि पुनर्ग्रहीतुम्।
दाहात्मिकां वा ज्वलितां तृणोल्कां संत्यज्य कामान्स पुनर्भजेत ॥ ५२ ॥

जो, डसने वाले कुपित साँप को या जलाने वाली जलती हुई तृणोल्का (लुगाठी) को छोड़कर फिर से पकड़ने का व्यवसाय करे वही कामों को छोड़कर, पुनः सेवन करे ॥ ५२ ॥

अन्धाय यश्च स्पृहयेदनन्धो बद्धाय मुक्तो विधनाय चाढ्यः ।
उन्मत्तचित्ताय च कल्यचित्तः स्पृहां स कुर्याद्विषयात्मकाय ॥ ५३ ॥

और जो दृष्टिमान्-अन्धा होने की, मुक्त-बन्धन की, धनी-गरीब होने की, स्वस्थचित्त उन्मत्तचित्त (पागल) होने की इच्छा करे। वही विषयी होने की स्पृहा करे ॥ ५३ ॥

भैक्षोपभोगीति च नानुकम्प्यः कृती जरामृत्युभयं तितीर्षुः ।
इहोत्तमं शान्तिसुखं च यस्य परत्र दुःखानि च संवृतानि ॥ ५४ ॥

भिक्षान्न खाता है अतः वह अनुकम्पा के योग्य नहीं है (वह तो) कुशल है, जरा-मृत्यु के भय से पार होना चाहता है। जिसको इस लोक में उत्तम सुख और शान्ति है (उसको) परलोक में दुःख नष्ट है ॥ ५४ ॥

लक्ष्म्यां महत्यामपि वर्तमानस्तृष्णाभिभूतस्त्वनुकम्पितव्यः ।
प्राप्नोति यः शान्तिसुखं न चेह परत्र दुःखैः प्रतिगृह्यते च ॥ ५५ ॥

बहुत बड़ी सम्पत्ति रहते हुए भी, जो तृष्णा से आक्रान्त है, इस लोक में सुख-शान्ति नहीं पाता और परलोक में दुःखों से पकड़ा जाता है—वह अनुकम्पा के योग्य है ॥ ५५ ॥

एवं तु वक्तुं भवतोऽनुरूपं सत्त्वस्य वृत्तस्य कुलस्य चैव ।
ममापि वोढुं सदृशं प्रतिज्ञां सत्त्वस्य वृत्तस्य कुलस्य चैव ॥ ५६ ॥

इस प्रकार कहना-आपके ज्ञान, आचार एवं वंश के अनुरूप है। मेरी भी प्रतिज्ञा वहन करना ज्ञान, आचार एवं कुल के अनुरूप है ॥ ५६ ॥

अहं हि संसारशरेण विद्धो विनिःसृतः शान्तिमवाप्तुकामः ।
नेच्छेयमाप्तुं त्रिदिवेऽपि राज्यं निरामयं किं बत मानुषेषु ॥ ५७ ॥

मैं तो संसार रूप बाण से विद्ध होकर शान्ति पाने की इच्छा से निकल पड़ा हूँ। स्वर्ग का निष्कण्टक राज्य भी (मैं) प्राप्त नहीं करना चाहता (फिर) मानव-राज्य का प्राप्त करना क्या ॥ ५७ ॥

त्रिवर्गसेवां नृप यत्तु कृत्स्नतः परो मनुष्यार्थ इति त्वमात्थ माम् ।
अनर्थ इत्येव ममात्र दर्शनं क्षयी त्रिवर्गो हि न चापि तर्पकः ॥५८॥

हे राजन् ! यह जो आपने मुझ से कहा—'त्रिवर्ग का सम्पूर्ण रूप से सेवन करना परम पुरुषार्थ है'—इसमें मुझे अनर्थ ही दीखता है। क्योंकि त्रिवर्ग नाशवान् है तथा संतोषदायक भी नहीं है ॥ ५८ ॥

पदे तु यस्मिन्न जरा न भीर्न रुङ् न जन्म नैवोपरमो न चाधयः ।
तमेव मन्ये पुरुषार्थमुत्तमं न विद्यते यत्र पुनः पुनः क्रिया ॥५९॥

जिस पद में न जरा, न भय, न रोग, न जन्म, न मृत्यु और न व्याधि है—उसको ही मैं परम पुरुषार्थ मानता हूँ, जिसमें बार-बार कर्म नहीं करना पड़ता है ॥ ५६ ॥

यदप्यवोचः परिपाल्यतां जरा नवं वयो गच्छति विक्रियामिति ।
अनिश्चयोऽयं बहुशो हि दृश्यते जराप्यधीरा धृतिमच्च यौवनम् ॥६०॥

(आपने) यह जो कहा—'वृद्धावस्था की प्रतीक्षा करो। नई अवस्था में विकार होता है'—यह भी निश्चित नहीं, क्योंकि बहुधा देखा गया है। वृद्धा-वस्था में अधीरता एवं युवावस्था (जवानी) में धैर्य (रहता है) ॥ ६० ॥

स्वकर्मदक्षश्च यदान्तको जगद् वयःसु सर्वेष्ववशं विकर्षति ।
विनाशकाले कथमव्यवस्थिते जरा प्रतीक्ष्या विदुषा शमेप्सुना ॥६१॥

और अपने कर्म में निपुण यमराज, जगत् को सब अवस्थाओं में बलात् खींच रहा है, तब विनाश (मृत्यु) का समय अनिश्चित होने पर कल्याण चाहने वाला विद्वान्, वृद्धावस्था की प्रतीक्षा क्यों करे ॥ ६१ ॥

जरायुधो व्याधिविकीर्णसायको यदान्तको व्याध इवाशिवः स्थितः ।
प्रजामृगान् भाग्यवनाश्रितास्तुदन् वयः-प्रकर्षं प्रति को मनोरथः ॥६२॥

जब कि यमराज, अमङ्गल व्याध के समान जरा रूप धनुष लिये हुए खड़ा है और व्याधि रूप बाणों को छोड़ता हुआ भाग्य, रूप वन में रहने वाले प्रजा रूप मृगों को वेध रहा है, तब बुढ़ापे के प्रति मनोरथ (प्रतीक्षा) क्या ॥ ६२ ॥

अतो युवा वा स्थविरोऽथवा शिशुस्तथा त्वरावानिह कर्तुमर्हति ।
यथा भवेद्धर्मवतः कृतात्मनः प्रवृत्तिरिष्टा विनिवृत्तिरेव वा ॥६३॥

अतः जवान हो या बूढ़ा अथवा बालक, उन्हें शीघ्र ही यहाँ ऐसा करना चाहिये जिससे धर्मात्मा व कृतार्थ होकर इष्ट (मोक्ष) में प्रवृत्ति एवं (संसार से) निवृत्ति ही हो जावे ॥ ६३ ॥

यदात्थ चापीष्टफलां कुलोचितां कुरुष्व धर्माय मखक्रियामिति ।
नमो मखेभ्यो न हि कामये सुखं परस्य दुःखक्रियया यदिष्यते ॥६४॥

(आपने) जो कहा—'धर्म के लिये, इष्ट फल देने वाली कुलोचित यज्ञ क्रिया करो ।' (उन) यज्ञों के लिये नमस्कार है । मैं ऐसा सुख नहीं चाहता जो दूसरों को दुःख देकर चाहा जाता है ॥ ६४ ॥

परं हि हन्तुं विवशं फलेप्सया न युक्तरूपं करुणात्मनः सतः ।
क्रतोः फलं यद्यपि शाश्वतं भवेत्तथापि कृत्वा किमु यत्क्षयात्मकम् ॥६५॥

दयावान् सज्जन के लिये फल की इच्छा से, अन्य विवश जीव को मारना उचित नहीं । यदि यज्ञ का फल शाश्वत भी हो, तो भी क्या ऐसा करना चाहिये जो घातक हो ? ॥ ६५ ॥

भवेच्च धर्मो यदि नापरो विधिर्व्रतेन शीलेन मनःशमेन वा ।
तथापि नैवार्हति सेवितुं क्रतुं विशस्य यस्मिन् परमुच्यते फलम् ॥६६॥

यदि व्रत से, शील से, मानसिक शांति से भिन्न अन्य उपाय धर्म प्राप्ति का न हो तो भी यज्ञ का सेवन नहीं करना चाहिये जिसमें दूसरों को मारकर फल प्राप्त होता है—ऐसा कहते हैं ॥ ६६ ॥

इहापि तावत्पुरुषस्य तिष्ठतः प्रवर्तते यत्परहिंसया सुखम् ।
तदप्यनिष्टं सघृणस्य धीमतो भवान्तरे किं बत यन्न दृश्यते ॥६७॥

इस लोक में भी रहनेवाले पुरुष को पराई हिंसा से जो सुख होता है, वह भी दयालु बुद्धिमान् के लिये इष्ट है । जन्मान्तर में जो दिखलाई नहीं देता, उसकी तो बात ही क्या ? ॥ ६७ ॥

न च प्रतार्योऽस्मि फलप्रवृत्तये भवेषु राजन् रमते न मे मनः ।
लता इवाम्भोधरवृष्टिताडिताः प्रवृत्तयः सर्वगता हि चञ्चलाः ॥६८॥

हे राजन् ! संसार में मेरा मन नहीं रमता है। अतः फल की ओर प्रवृत्त होने के लिये मैं ठगा नहीं जा सकता। मेघ की वर्षा से ताडित लता सदृश विश्वव्यापिनी प्रवृत्तियाँ चञ्चल हैं ॥ ६८ ॥

इहागतश्चाहमितो दिदृक्षया मुनेरराडस्य विमोक्षवादिनः।
प्रयामि चाद्यैव नृपास्तु ते शिवं वचः क्षमेथा मम तत्त्वनिष्ठुरम् ॥६९॥

यहाँ आया था। यहाँ से आज ही मोक्षवादी अराड मुनि को देखने की इच्छा से जा रहा हूँ। हे राजन् ! आपका कल्याण हो। (आप) मेरे इस सत्य निष्ठुर वचन को क्षमा करेंगे ॥ ६९ ॥

अवेन्द्रवद्दिव्यव शश्वदर्कवद् गुणैरव श्रेय इहाव गामव।
अवायुरार्यैरव सत्सुतानव श्रियश्च राजन्नव धर्ममात्मनः ॥ ७० ॥

हे राजन् ! स्वर्ग में इन्द्र के समान रक्षा कीजिये, सूर्य के समान सदा रक्षा कीजिये। गुणों से कल्याण की रक्षा कीजिये, यहाँ पृथ्वी की रक्षा कीजिये, आयु की रक्षा करें, आर्य-पुत्रों की रक्षा करें, लक्ष्मी की रक्षा करें, धर्म की रक्षा करें (एवं) अपनी रक्षा करें ॥ ७० ॥

हिमारिकेतूद्भवसंभवान्तरे यथा द्विजो याति विमोक्षयंस्तनुम्।
हिमारिशत्रुक्षयशत्रुघातने तथान्तरे याहि विमोक्षयन्मनः ॥ ७१ ॥

हिमारि (अग्नि) का केतु (धुआँ) से उत्पन्न होने वाले (बादल) से होने वाली वृष्टि के होने पर द्विज (अग्नि) जैसे अपना शरीर छोड़ते हुए जाता है (वृष्टि होने पर अग्नि बुझ जाती है) वैसे ही सूर्य के शत्रु (तम) के क्षय करने में शत्रु (विघ्न) विनाश करके मन को मुक्त करते हुए जाइये (अज्ञान दूर कीजिये) ॥ ७१ ॥

नृपोऽब्रवीत्साञ्जलिरागतस्पृहो यथेष्टमाप्नोतु भवानविघ्नतः।
अवाप्य काले कृतकृत्यतामिमां ममापि कार्यो भवता त्वनुग्रहः ॥७२॥

बड़े अनुराग से हाथ जोड़कर राजा ने कहा—आप अपना अभीष्ट निर्विघ्न प्राप्त करें, समय पर इसे प्राप्त करके कृतार्थ होवें एवं मेरे ऊपर भी आप अनुग्रह करें ॥ ७२ ॥

स्थिरं प्रतिज्ञाय तथेति पार्थिवे ततः स वैश्वन्तरसाश्रमं ययौ।
परिव्रजन्तं तमुदीक्ष्य विस्मितो नृपोऽपि वव्राज पुरं गिरिव्रजम् ॥७२॥

इति श्री अश्वघोषकृते पूर्वबुद्धचरितमहाकाव्ये
कामविगर्हणो नाम एकादशः सर्गः।

तब 'वैसा ही हो'--इस प्रकार राजा के लिये स्थिर प्रतिज्ञा करके वह वहाँ से वैश्वन्तर आश्रम को गया। उसको परिव्राजक रूप में देखकर, विस्मित होते हुए राजा भी गिरिव्रज नगर (राजगृह) को गया ॥ ७२ ॥

यह पूर्वबुद्धचरित महाकाव्य में कामनिन्दा नामक
एकादश सर्ग समाप्त हुआ।



अथ द्वादशः सर्गः

अराड-दर्शनः

आरड दर्शन

ततः शमविहारस्य मुनेरिक्ष्वाकुचन्द्रमाः ।
अराडस्याश्रमं भेजे वपुषा पूरयन्निव ॥ १ ॥

तब इक्ष्वाकु (वंश) का चन्द्रमा (वह राजकुमार), शान्ति में विहार करने वाले अराड मुनि के आश्रम में (अपने) शरीर के प्रभाव से मानो (उस आश्रम को) भरते हुए गया ॥ १ ॥

स कालायसगोत्रेण तेनालोक्यैव दूरतः ।
उच्चैः स्वागतमित्युक्तः समीपमुपजग्मिवान् ॥ २ ॥

कालायस गोत्र के उस मुनि ने दूर से देखते ही उच्च स्वर से—'स्वागत हो'—ऐसा कहा और वह कुमार उसके पास गया ॥ २ ॥

तावुभौ न्यायतः पृष्ट्वा धातुसाम्यं परस्परम् ।
दार्वव्योर्मेध्ययोर्वृष्योः शुचौ देशे निषेदतुः ॥ ३ ॥

वे दोनों न्याय-पूर्वक परस्पर कुशल पूछकर, पवित्र स्थान में लकड़ी के दो पवित्र आसन पर, जिन पर मृगचर्म बिछे हुए थे, बैठे ॥ ३ ॥

तमासीनं नृपसुतं सोऽब्रवीन्मुनिसत्तमः ।
बहुमानविशालाभ्यां दर्शनाभ्यां पिबन्निव ॥ ४ ॥

बैठे हुए उस राजकुमार को उस मुनिश्रेष्ठ ने, अपने अत्यन्त आदर युक्त विशाल नेत्रों से मानो पीता हुआ, कहा—॥ ४ ॥

विदितं मे यथा सौम्य निष्क्रान्तो भवनादसि ।
छित्त्वा स्नेहमयं पाशं पाशं दृप्त इव द्विपः ॥ ५ ॥

हे सौम्य! मुझे विदित हो गया--बन्धन तोड़कर अभिमानी हाथी के सदृश, स्नेहमय बन्धन काटकर आप निकल पड़े हैं ॥ ५ ॥

सर्वथा धृतिमच्चैव प्राज्ञं चैव मनस्तव।
यस्त्वं प्राप्तः श्रियं त्यक्त्वा लतां विषफलामिव ॥ ६ ॥

आपका मन सदैव धैर्यवान् एवं ज्ञानी है जो आप विष-लता रूपी लक्ष्मी को त्यागकर (निकल) आये हैं ॥ ६ ॥

नाश्चर्यं जीर्णवयसो तज्जग्मुः पार्थिवा वनम्।
अपत्येभ्यः श्रियं दत्त्वा भुक्तोच्छिष्टामिव स्रजम् ॥ ७ ॥

वृद्धावस्था होने पर राजा लोग सन्तानों को भोगी गई जूठी माला की तरह राज्यलक्ष्मी सौंपकर वन चले गये--इसमें कुछ आश्चर्य नहीं ॥ ७ ॥

इद मे मतमाश्चर्यं नवे वयसि यद्भवान्।
अभुक्त्वैव श्रियं प्राप्तः स्थितो विषयगोचरे ॥ ८ ॥

इसमें आश्चर्य मानता हूँ कि विषय के स्थान में रहते हुए, नई अवस्था में, लक्ष्मी को बिना भोगे आप आ गये हैं ॥ ८ ॥

तद्विज्ञातुमिमं धर्मं परमं भाजनं भवान्।
ज्ञानप्लवमधिष्ठाय शीघ्रं दुःखार्णवं तर ॥ ९ ॥

अतः इस धर्म को जानने के लिए आप श्रेष्ठ पात्र हैं। ज्ञानरूपी नौका पर चढ़कर, दुःख-सागर को शीघ्र पार कर जावें ॥ ९ ॥

शिष्ये यद्यपि विज्ञाते शास्त्रं कालेन वर्ण्यते।
गाम्भीर्याद् व्यवसायाच्च न परीक्ष्यो भवान्मम ॥ १० ॥

यद्यपि शिष्य को (अच्छी तरह) जान लेने के बाद समय पर शास्त्र का वर्णन किया जाता है। किन्तु आपकी गम्भीरता एवं उद्योग देखकर, मैं आप की परीक्षा नहीं लूंगा ॥ १० ॥

इति वाक्यमराडस्य विज्ञाय स नरर्षभः।
बभूव परमप्रीतः प्रोवाचोत्तरमेव च ॥ ११ ॥

वह नरपुङ्गव. अराड की यह बात जानकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उत्तर में बोला--॥ ११ ॥

विरक्तस्यापि यदिदं सौमुख्यं भवतः परम् ।
अकृतार्थोऽप्यनेनास्मि कृतार्थ इव संप्रति ॥ १२ ॥

आप विरक्त की भी जो यह अत्यन्त अनुकूलता है, इससे अकृतार्थ मैं भी इस समय कृतार्थ की तरह हूँ ॥ १२ ॥

दिदृक्षुरिव हि ज्योतिर्यियासुरिव दैशिकम् ।
त्वद्दर्शनमहं मन्ये तितीर्षुरिव च प्लवम् ॥ १३ ॥

देखने की इच्छा वाला प्रकाश को, यात्रा की इच्छा वाला पथप्रदर्शक को, एवं पार जाने वाला नौका को जिस प्रकार मानता है, मैं आपके दर्शन को भी वैसा ही मानता हूँ ॥ १३ ॥

तस्मादर्हसि तद्वक्तुं वक्तव्यं यदि मन्यसे ।
जरामरणरोगेभ्यो यथायं परिमुच्यते ॥ १४ ॥

अतः यदि कहने योग्य समझें तो आप वह कहें जिससे यह (मैं) जरा-मृत्यु के रोग से मुक्त हो जाय ॥ १५ ॥

इत्यराडः कुमारस्य माहात्म्यादेव चोदितः ।
संक्षिप्तं कथयाञ्चक्रे स्वस्य शास्त्रस्य निश्चयम् ॥ १५ ॥

इस प्रकार कुमार के प्रभाव से ही प्रेरित होकर, अराड ने अपने शास्त्र का निश्चय (सिद्धान्त) संक्षेप में कहा—॥ १५ ॥

श्रूयतामयमस्माकं सिद्धान्तः शृण्वतां वरः ।
यथा भवति संसारो यथा चैव निवर्तते ॥ १६ ॥

हे श्रोताओं में श्रेष्ठ ! हमारा यह सिद्धान्त सुनिए कि कैसे यह संसार बनता है एवं किस प्रकार मिटता है ॥ १६ ॥

प्रकृतिश्च विकारश्च जन्म-मृत्युर्जरैव च ।
तत्तावत्सत्त्वमित्युक्तं स्थिरसत्त्व परेहि तत् ॥ १७ ॥

हे स्थिरबुद्धि ! ऐसा समझिये कि प्रकृति, विकार, जन्म, मृत्यु एवं जरा, इनको सत्त्व कहा है ॥ १७ ॥

तत्र तु प्रकृतिं नाम विद्धि प्रकृतिकोविद ।
पञ्चभूतान्यहंकारं बुद्धिमव्यक्तमेव च ॥ १८ ॥

हे स्वभावतः ज्ञाता ! उसमें पंचभूत, अहंकार, बुद्धि एवं अव्यक्त को प्रकृति जानो ॥ १८ ॥

विकार इति बुध्यस्व विषयानिन्द्रियाणि च ।
पाणिपादं च वाचं च पायूपस्थं तथा मनः ॥ १९ ॥

और विषयों तथा इन्द्रियों—हाथ, पैर, वाणी, गुदा, लिङ्ग तथा मन को 'विकार' ऐसा जानो ॥ १९ ॥

अस्य क्षेत्रस्य विज्ञानात्क्षेत्रज्ञ इति संज्ञि च ।
क्षेत्रज्ञ इति चात्मानं कथयन्त्यात्मचिन्तकाः ॥ २० ॥

और संज्ञी (चेतन) इस देह क्षेत्र (देह) को जानता है अतः 'क्षेत्रज्ञ' ऐसा (कहा जाता है) एवं आत्मा का चिन्तन करने वाले, आत्मा को क्षेत्रज्ञ कहते हैं ॥ २० ॥

सशिष्यः कपिलश्चेह प्रतिबुद्ध इति स्मृतः ।
सपुत्रः प्रतिबुद्धस्तु प्रजापतिरिहोच्यते ॥ २१ ॥

इस विषय (क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के ज्ञान) में शिष्य सहित कपिल प्रतिबुद्ध (प्रबुद्ध या तत्त्ववेत्ता) स्मरण किये गये (कहे गये हैं) किन्तु पुत्रों सहित प्रजापति (पुत्र पालन अथवा उत्पन्न करने वाला मनुष्य) इस विषय में प्रतिबुद्ध (केवल पुत्र पालन में चतुर) कहा जाता है ॥ २१ ॥

जायते जीर्यते चैव बाध्यते म्रियते च यत् ।
तद्व्यक्तमिति विज्ञेयमव्यक्तं तु विपर्ययात् ॥ २२ ॥

जो उत्पन्न होता, जीर्ण होता, पीड़ित होता एवं मरता है उसे व्यक्त एवं जो इसके विपरीत है उसे अव्यक्त समझना चाहिये ॥ २२ ॥

अज्ञानं कर्म तृष्णा च ज्ञेयाः संसारहेतवः ।
स्थितोऽस्मिंस्त्रितये जन्तुस्तत्सत्त्वं नातिवर्तते ॥ २३ ॥

अज्ञान, कर्म और तृष्णा संसार के हेतु हैं। इन तीनों में स्थित रहने

वाला जन्तु उस सत्त्व (प्रकृति-विकार जन्म, जरा, व मृत्यु) के पार नहीं जा सकता ॥ २३ ॥

विप्रत्ययादहङ्कारात्संदेहादभिसंप्लवात् ।
अविशेषानुपायाभ्यां सङ्गादभ्यवपाततः ॥ २४ ॥

विप्रत्यय, अहङ्कार, सन्देह, अभिसंप्लव, अविशेष, अनुपाय, सङ्ग, अभ्यवपात—इनके कारण जीव सत्त्व का अतिक्रमण नहीं कर सकता है ॥ २४ ॥

तत्र विप्रत्ययो नाम विपरीतं प्रवर्तते ।
अन्यथा कुरुते कार्यं मन्तव्यं मन्यतेऽन्यथा ॥ २५ ॥

उनमें विपरीत ज्ञान वाला, विपरीत आचरण करता है, कार्य को उलटा करता है तथा मन्तव्य को उलटा मानता है ॥ २५ ॥

ब्रवीम्यहमहं वेद्मि गच्छाम्यहमहं स्थितिः ।
इतीहैवमहंकारस्त्वनहंकार ! वर्तते ॥ २६ ॥

हे अनहङ्कार ! मैं बोलता हूँ, मैं जानता हूँ, मैं जाता हूँ, मैं स्थित हूँ—इस प्रकार का (भाव) संसार में 'अहङ्कार' है ॥ २६ ॥

यस्तु भावानसंदिग्धानेकीभावेन पश्यति ।
मृत्पिण्डवदसंदेह ! सन्देहः स इहोच्यते ॥ २७ ॥

हे सन्देहरहित ! जो असंदिग्ध एक दूसरे से कभी नहीं मिलने वाले भावों (पदार्थों) को मिट्टी के ढेले के समान एकीभाव (मिले हुए देखता) है उसे इस लोक में 'सन्देह' कहते हैं ॥ २७ ॥

य एवाहं स एवेदं मनो बुद्धिश्च कर्म च ।
यश्चैवैष गणः सोऽहमिति यः सोऽभिसंप्लवः ॥ २८ ॥

जो यह मैं हूँ वही यह मन, बुद्धि तथा कर्म है, और जो यह 'मन आदि' का गण है वही मैं हूँ—ऐसा जो यह (ज्ञान) है वही अभिसंप्लव है ॥ २८ ॥

अविशेषं विशेषज्ञ ! प्रतिबुद्धाप्रबुद्धयोः ।
प्रकृतीनां च यो वेद सोऽविशेष इति स्मृतः ॥ २९ ॥

और हे विशेषज्ञ ! ज्ञानी अज्ञानी तथा प्रकृतियों में अविशेष (विशेषता, भेद) जो नहीं जानता है, वह 'अविशेष' कहा जाता है ॥ २९ ॥

नमस्कारवषट्कारौ प्रोक्षणाभ्युक्षणादयः ।
अनुपाय इति प्राज्ञैरुपायज्ञ ! प्रवेदितः ॥ ३० ॥

हे उपायज्ञ ! नमस्कार, वषट्कार, प्रोक्षण, अभ्युक्षण आदि को प्राज्ञों ने 'अनुपाय' (धर्म का उपाय नहीं)—ऐसा जाना है ॥ ३० ॥

सज्जते येन दुर्मेधा मनोवाग्बुद्धिकर्मभिः ।
विषयेष्वनभिष्वङ्ग ! सोऽभिष्वङ्ग इति स्मृतः ॥ ३१ ॥

हे सङ्गरहित ! जिससे दुर्बुद्धि पुरुष मन, वाणी, बुद्धि व कर्म के द्वारा विषयों में आसक्त (आबद्ध) होता है—उसे 'अभिष्वङ्ग' स्मरण किया गया है ॥ ३१ ॥

ममेदमहमस्येति मद् दुःखमभिमन्यते ।
विज्ञेयोऽभ्यवपातः स संसारे येन पात्यते ॥ ३२ ॥

'यह मेरा, मैं उसका,–इस प्रकार के भाव को, जो दुःख माना गया है उसे 'अभ्यवपात' जानना चाहिये ॥ ३२ ॥

इत्यविद्यां हि विद्वान्स पञ्चपर्वा समोहते ।
तमो मोहं महामोहं तामिस्रद्वयमेव च ॥ ३३ ॥

तम, मोह, महामोह, तामिस्रद्वय (दो तामिस्र)—ये पाँच पर्व को 'अविद्या'—ऐसा वह विद्वान् कहता है ॥ ३३ ॥

तत्रालस्यं तमो विद्धि मोहं मृत्युं च जन्म च ।
महामोहस्त्वसंमोह ! काम इत्येव गम्यताम् ॥ ३४ ॥

हे मोहरहित ! उनमें आलस्य को तम समझिये, जन्म एवं मृत्यु को मोह तथा काम ही महामोह है—ऐसा जानिये ॥ ३४ ॥

यस्मादत्र च भूतानि प्रमुह्यन्ति महान्त्यपि ।
तस्मादेष महाबाहो महामोह इति स्मृतः ॥ ३५ ॥

हे महाबाहो ! इस कारण से बड़े-बड़े प्राणी इस काम में मूढ़ हो जाते हैं अतः इसे 'महामोह' कहते हैं ॥ ३५ ॥

तामिस्रमिति चाक्रोध ! क्रोधमेवाधिकुर्वते ।
विषादं चान्धतामिस्रमविषाद ! प्रचक्षते ॥ ३६ ॥

हे अक्रोध ! क्रोध को ही 'तामिस्र'–ऐसा (अधिकारपूर्वक) कहते हैं, और हे विषादरहित ! विषाद को ही 'अन्धतामिस्र' कहते हैं ॥ ३६ ॥

अनया विद्यया बालः संयुक्तः पञ्चपर्वया ।
संसारे दुःखभूयिष्ठे जन्मस्वभिनिषिच्यते ॥ ३७ ॥

इस पाँच पोर वाली अविद्या से संयुक्त होकर अज्ञ प्राणी इस दुःख-बहुल संसार में पुनः-पुनः जन्म में डाला जाता है ॥ ३७ ॥

द्रष्टा श्रोता च मन्ता च कार्यकारणमेव च ।
अहमित्येवमागम्य संसारे परिवर्तते ॥ ३८ ॥

द्रष्टा, श्रोता, ज्ञाता, कार्य एवं कारण—'मैं ही हूँ'—ऐसा मानता हुआ वह संसार में भटकता है ॥ ३८ ॥

इहैभिर्हेतुभिर्धीमन् ! जन्मस्रोतः प्रवर्तते ।
हेत्वभावात्फलाभाव इति विज्ञातुमर्हसि ॥ ३९ ॥

हे बुद्धिमान् ! इन हेतुओं से ही जन्म-स्रोत बहता है । हेतु के अभाव से फल का अभाव होता है—ऐसा जानना चाहिये ॥ ३९ ॥

तत्र सम्यङ् मतिर्विद्यान्मोक्षकाम ! चतुष्टयम् ।
प्रतिबुद्धाप्रबुद्धौ च व्यक्तमव्यक्तमेव च ॥ ४० ॥

हे मोक्षेच्छु ! बुद्धिमानों को ये चार बातें सम्यक् (अच्छी तरह से) जानना चाहिये—प्रतिबुद्ध, अप्रबुद्ध, व्यक्त एवं अव्यक्त ॥ ४० ॥

यथावदेतद्विज्ञाय क्षेत्रज्ञो हि चतुष्टयम् ।
आजवंजवतां हित्वा प्राप्नोति पदमक्षरम् ॥ ४१ ॥

क्षेत्रज्ञ (आत्मा) इन चारों को अच्छी तरह जानकर आवागमन (आना जाना) छोड़कर अक्षर (अविनाशी) पद पाता है ॥ ४१ ॥

इत्यर्थं ब्राह्मणा लोके परमब्रह्मवादिनः ।
ब्रह्मचर्यं चरन्तीह ब्राह्मणान्वासयन्ति च ॥ ४२ ॥

इसके लिये ही संसार में परम ब्रह्मवादी ब्राह्मण ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं एवं ब्राह्मणों को (ब्रह्मचर्य) बताते हैं ॥ ४२ ॥

इति वाक्यमिदं श्रुत्वा मुनेस्तस्य नृपात्मजः ।
अभ्युपायं च पप्रच्छ पदमेव च नैष्ठिकम् ॥ ४३ ॥

राज-पुत्र ने, उस मुनि का यह वचन सुनकर, उपाय एवं नैष्ठिक पद के सम्बन्ध में पूछा ॥ ४३ ॥

ब्रह्मचर्यमिदं चर्यं यथा यावच्च यत्र च ।
धर्मस्यास्य च पर्यन्तं भवान्व्याख्यातुमर्हति ॥ ४४ ॥

हे भगवन् ! यह ब्रह्मचर्य जैसे, जब तक एवं जहाँ पर रहा जाता है तथा इस धर्म का अन्त कहाँ होता है ? इसकी व्याख्या करें ॥ ४४ ॥

इत्यराडो यथाशास्त्रं विस्पष्टार्थं समासतः ।
तमेवान्येन कल्पेन धर्ममस्मै व्यभाषत ॥ ४५ ॥

ऐसा पूछा जाने पर अराड ने शास्त्रानुसार उसी धर्म को दूसरी रीति से स्पष्ट अर्थों में संक्षेप से, उसके लिये कहा—॥ ४५ ॥

अयमादौ गृहान्मुक्त्वा भैक्षाकं लिङ्गमाश्रितः ।
समुदाचारविस्तीर्णं शीलमादाय वर्तते ॥ ४६ ॥

वह (व्रती) पहिले घर छोड़कर भिक्षुक का वेष धारण करके, सम्यक् उदार आचरण-संयुक्त शील ग्रहण करके रहता है ॥ ४६ ॥

संतोषं परमास्थाय येन तेन यतस्ततः ।
विविक्तं सेवते वासं निर्द्वन्द्वः शास्त्रवित्कृती ॥ ४७ ॥

जहाँ तहाँ से जिस तिस प्रकार से जो कुछ भी प्राप्त हो, परम संतोष से रहते हुए, कुशलतापूर्वक, शास्त्र का चिन्तन करते हुए निर्द्वन्द्व एकान्त वास करता है ॥ ४७ ॥

ततो रागाद्भयं दृष्ट्वा वैराग्याच्च परं शिवम् ।
निगृह्णन्निन्द्रियग्रामं यतते मनसः शमे ॥ ४८ ॥

तब राग से भय एवं वैराग्य से परम कल्याण—ऐसा देख इन्द्रिय-समुदाय को वश में करते हुए, मन की शान्ति के लिये यत्न करता है ॥ ४८ ॥

अथो विविक्तं कामेभ्यो व्यापादादिभ्य एव च ।
विवेकजमवाप्नोति पूर्वध्यानं वितर्कवत् ॥ ४९ ॥

इसके बाद काम एवं क्रोध, लोभ आदि से शून्य, विवेकजन्य वितर्कवान् पूर्वध्यान (प्रथम समाधि) प्राप्त करता है ॥ ४९ ॥

तच्च ध्यानसुखं प्राप्य तत्तदेव वितर्कयन् ।
अपूर्वसुखलाभेन ह्रियते बालिशो जनः ॥ ५० ॥

और उस ध्यानसुख को पाकर उसी उसी का वितर्क (चिन्तन) करता हुआ मूर्ख मनुष्य (विद्वान नहीं) विलक्षण सुख की प्राप्ति द्वारा पदच्युत हो जाता है ॥ ५० ॥

शमेनैवंविधेनायं कामद्वेषविगर्हिणा ।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति परितोषेण वञ्चितः ॥ ५१ ॥

इसी प्रकार की शान्ति से, जो काम और द्वेष की विरोधिनी है, ब्रह्मलोक प्राप्त होता है। इस प्रकार के मिथ्याभिमान से वह ठगा जाता है ॥ ५१ ॥

ज्ञात्वा विद्वान्वितर्कांस्तु मनःसंक्षोभकारकान् ।
तद्वियुक्तमवाप्नोति ध्यानं प्रीतिसुखान्वितम् ॥ ५२ ॥

किन्तु विद्वान मनुष्य वितर्कों को समझकर, वितर्कों से रहित एवं प्रीतिसुख से युक्त ध्यान प्राप्त करता है ॥ ५२ ॥

ह्रियमाणस्तया प्रीत्या यो विशेषं न पश्यति ।
स्थानं भास्वरमाप्नोति देवेष्वाभास्वरेषु सः ॥ ५३ ॥

उस प्रीति द्वारा हरण (विक्षिप्त) किये जाने पर जो विशेष (विशिष्ट तत्त्व) को नहीं देखता है वह आभास्वर देवों के मध्य भास्वर स्थान पाता है।

यस्तु प्रीतिसुखात्तस्माद्विवेचयति मानसम् ।
तृतीयं लभते ध्यानं सुखं प्रीतिविवर्जितम् ॥ ५४ ॥

जो उस प्रीतिसुख से (भी) अपने मन को चुन (निकाल) लेता है, वह प्रीतिशून्य (विलक्षण) सुख (स्वरूप) तृतीय ध्यान प्राप्त करता है ॥ ५४ ॥

यस्तु तस्मिन्सुखे मग्नो न विशेषाय यत्नवान् ।
शुभकृत्स्नैः स सामान्यं सुखं प्राप्नोति दैवतैः ॥ ५५ ॥

जो उस सुख में मग्न होकर विशेष के लिये प्रयत्न नहीं करता है, वह शुभकृत्स्न नामक देवताओं के साथ सामान्य सुख प्राप्त करता है ॥ ५५ ॥

तादृशं सुखमासाद्य यो न रज्यत्युपेक्षकः ।
चतुर्थं ध्यानमाप्नोति सुखदुःखविवर्जितम् ॥ ५६ ॥

वैसा सुख पाकर जो अनुरक्त नहीं होता है (अपितु) उपेक्षा करता है, वह दुःख-सुख से रहित चौथा ध्यान प्राप्त करता है ॥ ५६ ॥

तत्र केचिद् व्यवस्यन्ति मोक्ष इत्यभिमानिनः ।
सुखदुःखपरित्यागादव्यापाराच्च चेतसः ॥ ५७ ॥

उसमें सुख-दुःख का परित्याग हो जाता है एवं मन का व्यापार नहीं होता है, अतः कुछ अभिमानी लोग उसे 'मोक्ष' कहते हैं ॥ ५७ ॥

अस्य ध्यानस्य तु फलं समं देवैर्बृहत्फलैः ।
कथयन्ति बृहत्कालं बृहत्प्रज्ञापरीक्षकः ॥ ५८ ॥

बृहत्प्रज्ञा (ब्रह्मज्ञान) के परीक्षक कहते हैं—इस ध्यान का फल बृहत्फल संज्ञक देवों के साथ सुदीर्घकाल तक मिलता है ॥ ५८ ॥

समाधेर्व्युत्थितस्तस्माद् दृष्ट्वा दोषाञ्छरीरिणाम् ।
ज्ञानमारोहति प्राज्ञः शरीरविनिवृत्तये ॥ ५९ ॥

(वहाँ) शरीरधारियों के दोष देखकर बुद्धिमान् जन उस समाधि से उठकर शरीर-निवृत्ति के लिये ज्ञान पर आरूढ होते हैं ॥ ५९ ॥

ततस्तद्ध्यानमुत्सृज्य विशेषे कृतनिश्चयः ।
कामेभ्य इव स प्राज्ञो रूपादपि विरज्यते ॥ ६० ॥

तब वह विद्वान् विशेष के लिये निश्चय करके उस ध्यान को छोड़कर, काम की तरह रूप से भी विरक्त हो जाता है ॥ ६० ॥

शरीरे खानि यान्यस्मिंस्तान्यादौ परिकल्पयन् ।
घनेष्वपि ततो द्रव्येष्वाकाशमधिमुच्यते ॥ ६१ ॥

इस शरीर में जो छिद्र (इन्द्रियाँ) हैं, पहिले उनकी कल्पना (शून्य की भावना) करता है। फिर घन (ठोस) द्रव्यों में भी आकाश (शून्य) की भावना करता है ॥ ६१ ॥

आकाशगतमात्मानं संक्षिप्य त्वपरो बुधः ।
तदेवानन्ततः पश्यन्विशेषमधिगच्छति ॥ ६२ ॥

दूसरा बुध पुरुष आकाश में स्थित आत्मा (जीवात्मा या अहम् आत्मा) को खींचकर, उसी को अनन्त स्वरूप देखता हुआ विशेष को प्राप्त करता है।

अध्यात्मकुशलस्त्वन्यो निवर्त्यात्मानमात्मना ।
किंचिन्नास्तीति संपश्यन्नाकिंचन्य इति स्मृतः ॥ ६३ ॥

दूसरा अध्यात्म-कुशल साधक आत्मा द्वारा आत्मा को छुड़ाकर 'कुछ नहीं है'—ऐसा देखता हुआ 'नाकिञ्चन्य'—ऐसा स्मरण किया गया है ॥६३॥

ततो मुञ्जादिषीकेव शकुनिः पञ्जरादिव ।
क्षेत्रज्ञो निःसृतो देहान्मुक्त इत्यभिधीयते ॥ ६४ ॥

तब मुञ्ज से निकली हुई सींक की तरह, पिंजड़े से निकले हुए पक्षी की तरह, देह से निकला क्षेत्रज्ञ (आत्मा) 'मुक्त हो गया'—ऐसा कहा जाता है।

एतत्तत्परमं ब्रह्म निर्लिङ्गं ध्रुवमक्षरम् ।
यन्मोक्ष इति तत्त्वज्ञाः कथयन्ति मनीषिणः ॥ ६५ ॥

यह वह चिह्न रहित अटल अविनाशी परम ब्रह्म है जिसे तत्त्व-ज्ञाता मनीषी 'मोक्ष'—ऐसा कहते हैं ॥ ६५ ॥

इत्युपायश्च मोक्षश्च मया संदर्शितस्तव ।
यदि ज्ञातं यदि रुचिर्यथावत्प्रतिपद्यताम् ॥ ६६ ॥

इस प्रकार उपाय एवं मोक्ष, मैंने आपको बताया, यदि समझें हो एवं इसमें रुचि रखते हों तो प्राप्त (ग्रहण) कीजिये ॥ ६६ ॥

जैगीषव्योऽथ जनको वृद्धश्चैव पराशरः ।
इमं पन्थानमासाद्य मुक्ता ह्यन्ये च मोक्षिणः ॥ ६७ ॥

जैगीषव्य, जनक, वृद्ध पराशर एवं अन्य मुक्त पुरुष, इस मार्ग का सहारा लेकर मुक्त हुए ॥ ६७ ॥

इति तस्य स तद्वाक्यं गृहीत्वा तु विचार्य च ।
पूर्वहेतुबलप्राप्तः प्रत्युत्तरमुवाच ह ॥ ६८ ॥

वह (कुमार) उसके ऐसे वचन सुनकर एवं विचारकर, पूर्व जन्म के हेतु बल (तीन कुशल मूलों की शक्ति) से युक्त हो प्रति उत्तर दिया ॥ ६८ ॥

श्रुतं ज्ञानमिदं सूक्ष्मं परतः परतः शिवम् ।
क्षेत्रज्ञस्यापरित्यागादवैम्येतदनैष्ठिकम् ॥ ६९ ॥

उत्तरोत्तर कल्याणमय यह सूक्ष्म ज्ञान (मैंने) सुना । क्षेत्रज्ञ का परित्याग न होने से इसे अनैष्ठिक (नैष्ठिक पद नहीं) समझता हूँ ॥ ६९ ॥

विकारप्रकृतिभ्यो हि क्षेत्रज्ञं मुक्तमप्यहम् ।
मन्ये प्रसवधर्माणं बीजधर्माणमेव च ॥ ७० ॥

विकार एवं प्रकृति से मुक्त होने पर भी क्षेत्रज्ञ में प्रसव धर्म (उत्पत्ति करने का स्वभाव) एवं बीज-धर्म (उत्पादन-शक्ति) रहा आता है—ऐसा मैं समझता हूँ ॥ ७० ॥

विशुद्धो यद्यपि ह्यात्मा निर्मुक्त इति कल्प्यते ।
भूयः प्रत्ययसद्भावादमुक्तः स भविष्यति ॥ ७१ ॥

यद्यपि विशुद्ध आत्मा निर्मुक्त है—ऐसा समझ लिया गया, फिर भी प्रत्ययों ('अस्ति' ऐसा विश्वास) के विद्यमान रहने से अमुक्त हो जायगा ॥७१॥

ऋतुभूम्यम्बुविरहाद्यथा बीजं न रोहति ।
रोहति प्रत्ययैस्तैस्तैस्तद्वत्सोऽपि मतो मम ॥ ७२ ॥

जैसे ऋतु, भूमि व जल के अभाव में बीज अंकुरित नहीं होता है किंतु उन उन कारणों के होने से, अंकुरित होता है—वैसा ही उसको भी मैं मानता हूँ ॥ ७२ ॥

यत्कर्माज्ञानतृष्णानां त्यागान्मोक्षश्च कल्प्यते ।
अत्यन्तस्तत्परित्यागः सत्यात्मनि न विद्यते ॥ ७३ ॥

जो कर्म, अज्ञान, तृष्णा के त्याग से मोक्ष होने की कल्पना की जाती है, सो आत्मा के रहते हुए उनका सर्वथा त्याग (अभाव) नहीं हो सकता है।

हित्वा हित्वा त्रयमिदं विशेषस्तूपलभ्यते ।
आत्मनस्तु स्थितिर्यत्र तत्र सूक्ष्ममिदं त्रयम् ॥ ७४ ॥

इन तीनों को त्यागते-त्यागते शेष की प्राप्ति होती है, किन्तु जहाँ आत्मा का अस्तित्व रहता है, वहाँ तीनों सूक्ष्म रूप में रहते ही हैं ॥ ७४ ॥

सूक्ष्मत्वाच्चैव दोषाणामव्यापाराच्च चेतसः ।
दीर्घत्वादायुषश्चैव मोक्षस्तु परिकल्प्यते ॥ ७५ ॥

दोषों के सूक्ष्म हो जाने से एवं चित्त से व्यापार नहीं होने से तथा आयु दीर्घ हो जाने से मोक्ष की (केवल) कल्पना कर ली जाती है ॥ ७५ ॥

अहंकारपरित्यागो यश्चैष परिकल्प्यते ।
सत्यात्मनि परित्यागो नाहंकारस्य विद्यते ॥ ७६ ॥

और जो अहङ्कार के परित्याग की कल्पना की जाती है, वह, आत्मा के विद्यमान रहते, अहङ्कार का परित्याग नहीं हो सकता है ॥ ७६ ॥

संख्यादिभिरमुक्तश्च निर्गुणो न भवत्ययम् ।
तस्मादसति नैर्गुण्ये नास्य मोक्षोऽभिधीयते ॥ ७७ ॥

और संख्या आदि से मुक्त नहीं होने पर वह निर्गुण नहीं हो सकता है। अतः निर्गुण हुए विना 'उसका मोक्ष हो गया'—ऐसा नहीं कहा जा सकता।

गुणिनो हि गुणानां च व्यतिरेको न विद्यते ।
रूपोष्णाभ्यां विरहितो न ह्यग्निरुपलभ्यते ॥ ७८ ॥

गुणी एवं गुण अलग-अलग नहीं रह सकते हैं। (उसी प्रकार) रूप एवं उष्णता से रहित अग्नि नहीं पाई जाती है ॥ ७८ ॥

प्राग्देहान्न भवेद्देही प्राग्गुणेभ्यस्तथा गुणी।
तस्मादादौ विमुक्तः सञ् शरीरी बध्यते पुनः ॥ ७९ ॥

देही देह से पूर्व नहीं, इसी तरह गुणी गुणों से पूर्व नहीं। अतः पहिले मुक्त होने पर भी शरीर पुनः बँध जाता है ॥ ७९ ॥

क्षेत्रज्ञो विशरीरश्च ज्ञात्वा स्यादज्ञ एव वा।
यदि ज्ञो ज्ञेयमस्यास्ति ज्ञेये सति न मुच्यते ॥ ८० ॥

एवं शरीर रहित आत्मा जानने वाला अथवा न जानने वाला—दोनों में से एक हो सकता है। यदि 'ज्ञ' है तो उसके लिये जानना शेष है। जब जानना अभी शेष है तो मुक्त नहीं है ॥ ८० ॥

अथाज्ञ इति सिद्धो वः कल्पितेन किमात्मना।
विनापि ह्यात्मनाज्ञानं प्रसिद्धं काष्ठकुड्यवत् ॥ ८१ ॥

यदि आपके सिद्धान्त से अज्ञ है तो आत्मा की कल्पना से क्या! (लाभ)। क्योंकि आत्मा के बिना भी जड़ वस्तु काष्ठ एवं दीवाल-सदृश सिद्ध है ॥ ८१ ॥

परतः परतस्त्यागो यस्मात्तु गुणवान् स्मृतः।
तस्मात्सर्वपरित्यागान्मन्ये कृत्स्नां कृतार्थताम् ॥ ८२ ॥

क्योंकि एक के बाद एक (गुणों) का त्याग करता है अतः 'गुणवान्' स्मरण किया गया है, अतएव सबके त्याग से पूर्ण कृतार्थता होती है—ऐसा मैं मानता हूँ ॥ ८२ ॥

इति धर्ममराडस्य विदित्वा न तुतोष सः।
अकृत्स्नमिति विज्ञाय ततः प्रतिजगाम ह ॥ ८३ ॥

इस प्रकार वह (कुमार) अराड का धर्म जानकर संतुष्ट नहीं हुआ 'यह धर्म अपूर्ण है'—ऐसा जानकर वहाँ से चला गया ॥ ८३ ॥

विशेषमथ शुश्रुषुरुद्रकस्याश्रमं ययौ।
आत्मग्राहाच्च तस्यापि जगृहे न स दर्शनम् ॥ ८४ ॥

इसके बाद (कुछ) विशेष जानने की इच्छा से उद्रक के आश्रम में गया किन्तु आत्मा को स्वीकार करने के कारण उसका भी दार्शनिक विचार उसने ग्रहण नहीं किया ॥ ८४ ॥

संज्ञासंज्ञित्वयोर्दोषं ज्ञात्वा हि मुनिरुद्रकः ।
आकिंचन्यात्परं लेभेऽसंज्ञासंज्ञात्मिकां मतिम् ॥ ८५ ॥

उद्रक मुनि ने चेतन और जड़ (द्वैतवाद) में दोष देखकर अकिंचन से परे, संज्ञा, असंज्ञा-रहित (तत्त्व) का ज्ञान प्राप्त किया था ॥ ८५ ॥

यस्माच्चालम्बने सूक्ष्मे संज्ञासंज्ञे ततः परम् ।
नासंज्ञी नैव संज्ञीति तस्मात्तत्र गतस्पृहः ॥ ८६ ॥

क्योंकि सूक्ष्म (कारणभूत) संज्ञा व असंज्ञा (चेतन व जड़) भी कर्म के अधिष्ठान हैं। उससे परे न तो संज्ञावान् और न असंज्ञावान् तत्त्व है किंतु वह मुनि उस तत्त्व का अभिलाषी था ॥ ८६ ॥

यतश्च बुद्धिस्तत्रैव स्थितान्यत्राप्रचारिणी ।
सूक्ष्मापट्वी ततस्तत्र नासंज्ञित्वं न संज्ञिता ॥ ८७ ॥

क्योंकि बुद्धि सूक्ष्म एवं स्थिर होकर वहीं रुक जाती है अन्यत्र नहीं जाती है अतः न वहाँ असंज्ञा है और न संज्ञा है ॥ ८७ ॥

यस्माच्च तदपि प्राप्य पुनरावर्तते जगत् ।
बोधिसत्त्वः परं प्रेप्सुस्तस्मादुद्रकमत्यजत् ॥ ८८ ॥

क्योंकि उसे भी प्राप्त कर जीव पुनः संसार में लौट आता है अतः बोधिसत्त्व ने परम पद पाने की इच्छा से उद्रक को भी त्याग दिया ॥ ८८ ॥

ततो हित्वाश्रमं तस्य श्रेयोऽर्थी कृतनिश्चयः ।
भेजे गयस्य राजर्षेर्नगरीसंज्ञमाश्रमम् ॥ ८९ ॥

तब कल्याण की इच्छा से निश्चय करके, उनका आश्रम छोड़कर राजऋषि 'गय' के पास नगरी नामक आश्रम गया ॥ ८९ ॥

अथ नैरञ्जनातीरे शुचौ शुचिपराक्रमः ।
चकार वासमेकान्तविहाराभिरतिर्मुनिः ॥ ९० ॥

इसके बाद, पवित्र पराक्रम वाले एकान्त-विहार में आनन्द पाने वाले उस मुनि ने नैरञ्जना नदी के पवित्र तट पर निवास किया ।। ९० ।।

आगतान् तत्र तत्पूर्वं पञ्चन्द्रियवशोद्धतान् ।
तपःप्रवृत्तान् व्रतिनो भिक्षून् पञ्च निरैक्षत ।। ९१ ।।

उसके पहिले ही वहाँ आये हुए, पञ्च इन्द्रियों को वश में कर लेने के कारण गौरवान्वित एवं तपस्या में लगे हुए व्रतनिष्ठ पाँच भिक्षुओं को (उसने) देखा ।। ९१ ।।

ते चोपतस्थुर्दृष्ट्वात्र भिक्षवस्तं मुमुक्षवः ।
पुण्यार्जितधनारोग्यमिन्द्रियार्था इवेश्वरम् ।। ९२ ।।

मोक्ष चाहने वाले वे भिक्षुक, उसे वहाँ देखकर, उसके पास गये जैसे इन्द्रियों के विषय उस ऐश्वर्यवान् के पास उपस्थित होते हैं जिसने अपने पुण्य से धन एवं आरोग्य एकत्रित किया है ।। ९२ ।।

सम्पूज्यमानस्तैः प्रह्वैर्विनयादनुवर्तिभिः ।
तद्वशस्थायिभिः शिष्यैर्लोलैर्मन इवेन्द्रियैः ।। ९३ ।।

वशवर्ती, विनीत, अनुयायी एवं आज्ञाकारी उन शिष्यों से वह ऐसे सेवित हुआ जैसे चञ्चल इन्द्रियों से मन सेवित होता है ।। ९३ ।।

मृत्युजन्मान्तकरणे स्यादुपायोऽयमित्यथ ।
दुष्कराणि समारेभे तपांस्यनशनेन सः ।। ९४ ।।

मृत्यु एवं जन्म का अन्त करने में उपाय (साधन) बनेगा, इस उद्देश से उसने बिना आहार (निराहार) रहकर दुष्कर तप आरम्भ किया ।। ९४ ।।

उपवासविधीन्नैकान् कुर्वन्नरदुराचराद् ।
वर्षाणि षट् शमप्रेप्सुरकरोत्कार्श्यमात्मनः ।। ९५ ।।

शान्ति पाने की इच्छा से उसने (अन्य) नरों के लिये दुष्कर अनेक प्रकार के उपवास व्रत छः वर्ष तक करते हुए अपने को कृश किया ।। ९५ ।।

अन्नकालेषु चैकैकैः स कोलतिलतण्डुलैः ।
अपारपारसंसारपारं प्रेप्सुरपारयत् ।। ९६ ।।

उसने अपार-पार संसार का पार पाने की इच्छा से भोजन के समय पर बेर, तिल, तण्डुल का एक-एक करके पारण किया ॥ ९६ ॥

देहादपचयस्तेन तपसा तस्य यः कृतः ।
स एवोपचयो भूयस्तेजसास्य कृतोऽभवत् ॥ ९७ ॥

तपस्या ने उसकी देह को जितना कृश किया, उसके तेज ने उतनी ही वृद्धि की ॥ ९७ ॥

कृशोऽप्यकृशकीर्तिश्रीर्ह्लादं चक्रेऽन्यचक्षुषाम् ।
कुमुदानामिव शरच्छुक्लपक्षादिचन्द्रमाः ॥ ९८ ॥

दुर्बल होने पर भी उसकी कीर्ति एवं शोभा क्षीण नहीं हुई थी । उसने दूसरे की आँखों को वैसे ही प्रसन्न किया जैसे शरद ऋतु के शुक्ल पक्ष की पूर्णिमा का चन्द्रमा, कुमुदों को प्रसन्न करता है ॥ ९८ ॥

त्वगस्थिशेषो निःशेषमेदःपिशितशोणितैः ।
क्षीणोऽप्यक्षीणगाम्भीर्यः समुद्र इव स व्यभात् ॥ ९९ ॥

मेदा, मांस, खून से रहित, त्वचा एवं हड्डी मात्र शेष (शरीर से) वह समुद्र सदृश सुशोभित हुआ ॥ ९९ ॥

अथ कष्टतपःस्पष्टव्यर्थक्लिष्टतनुर्मुनिः ।
भवभीरुरिमां चक्रे बुद्धिं बुद्धत्वकाङ्क्षया ॥ १०० ॥

संसार से डरने वाले उस मुनि ने कठिन तपस्या से 'सत्य ही शरीर को व्यर्थ कष्ट होता है'—ऐसा सोचकर बुद्धत्व प्राप्ति की इच्छा से इस प्रकार विचार किया ॥ १०० ॥

नायं धर्मो विरागाय न बोधाय न मुक्तये ।
जम्बुमूले मया प्राप्तो यस्तदा स विधिर्ध्रुवः ॥ १०१ ॥

यह धर्म न वैराग्य दे सकता है, बोध और न मुक्ति। उस समय जम्बु वृक्ष के नीचे जो साधन मैंने प्राप्त किया था वही ध्रुव है ॥ १०१ ॥

न चासौ दुर्बलेनाप्तुं शक्यमित्यागतादरः ।
शरीरबलवृद्ध्यर्थमिदं भूयोऽन्वचिन्तयत् ॥ १०२ ॥

दुर्बल उसे नहीं पा सकता है—ऐसा (शरीर के प्रति) आदर होने पर, शरीर-बल-वृद्धि के लिये उसने पुनः ऐसा चिन्तन किया ॥ १०२ ॥

क्षुत्पिपासाश्रमक्लान्तः श्रमादस्वस्थमानसः ।
प्राप्नुयान्मनसावाप्यं फलं कथमनिर्वृतः ॥ १०३ ॥

क्षुधा, पिपासा, थकान से क्षीण एवं परिश्रम से जिसका मन अस्त-व्यस्त है—ऐसा अशान्त मनुष्य, मन से प्राप्त होने वाला फल कैसे प्राप्त कर सकता है ? ॥ १०३ ॥

निर्वृतिः प्राप्यते सम्यक् सततेन्द्रियतर्पणात् ।
संतर्पितेन्द्रियतया मनःस्वास्थ्यमवाप्यते ॥ १०४ ॥

इन्द्रियों को सदा तृप्त रखने पर अच्छी शान्ति मिलती है एवं इन्द्रियों के सम्यक् तृप्त रहने से ही मानसिक स्थिरता मिल सकती है ॥ १०४ ॥

स्वस्थप्रसन्नमनसः समाधिरुपपद्यते ।
समाधियुक्तचित्तस्य ध्यानयोगः प्रवर्तते ॥ १०५ ॥

स्थिर एवं प्रसन्न मन वाले को समाधि सिद्ध होती है। समाधि से युक्त चित्त वाले को ध्यान योग प्राप्त होता है ॥ १०५ ॥

ध्यानप्रवर्तनाद्धर्माः प्राप्यन्ते यैरवाप्यते ।
दुर्लभं शान्तमजरं परं तदमृतं पदम् ॥ १०६ ॥

ध्यान प्रवृत्त (सिद्ध) होने पर वे धर्म प्राप्त करते हैं जिनसे दुर्लभ, शान्त, अजर, परम वह अमृत पद प्राप्त होता है ॥ १०६ ॥

तस्मादाहारमूलोऽयमुपाय इति निश्चयः ।
आहारकरणे धीरः कृत्वाऽमितमतिर्मतिम् ॥ १०७ ॥

अतः यह उपाय आहारमूलक है—ऐसा निश्चय करके उस महान् बुद्धिमान् ने भोजन करने का विचार किया ॥ १०७ ॥

स्नातो नैरञ्जनातीरादुत्ततार शनैः कृशः ।
भक्त्यावनतशाखाग्रैर्दत्तहस्तस्तटद्रुमैः ॥ १०८ ॥

शरीर दुर्बल हो गया था, स्नान करके नैरञ्जना नदी के तीर से धीरे-धीरे

ऊपर चढ़ा । उस समय तट के वृक्षों ने भक्ति से शाखाओं के अग्रभाग को झुकाकर हाथ का (सहारा) दिया ॥ १०८ ॥

अथ गोपाधिपसुता दैवतैरभिचोदिता ।
उद्भूतहृदयानन्दा तत्र नन्दबलागमत् ॥ १०९ ॥

तब देवताओं से प्रेरित होकर गोपराज की कन्या 'नन्दबला' हृदय में आनन्द भर कर वहाँ गई ॥ १०९ ॥

सितशंखोज्ज्वलभुजा नीलकम्बलवासिनी ।
सफेनमाला नीलाम्बुर्यमुनेव सरिद्वरा ॥ ११० ॥

सफेद शंख (की मालाओं) से उज्ज्वल भुजा वाली (वह) नील कम्बल के वस्त्र पहिने थी, जैसे फेनमाला से युक्त नील जल वाली श्रेष्ठ नदी यमुना हो ॥ ११० ॥

सा श्रद्धावर्जितप्रीतिर्विकसल्लोचनोत्पला ।
शिरसा प्रणिपत्यैनं ग्राहयामास पायसम् ॥ १११ ॥

वह श्रद्धा से नम्र एवं प्रसन्न थी, खिले हुए कमल के समान उसके नेत्र थे । (उसने) शिर से प्रणाम करके उनको पायस खिलाया ॥ १११ ॥

कृत्वा तदुपभोगेन प्राप्तजन्मफलां स ताम् ।
बोधिप्राप्तौ समर्थोऽभूत्संतर्पितषडिन्द्रियः ॥ ११२ ॥

उस (पायस) का उपभोग करके उसने उस कन्या का जन्म सफल किया, एवं छहों इन्द्रियों को अच्छी तरह तृप्त कर (वह) बोध प्राप्त करने में समर्थ हुआ ॥ ११२ ॥

पर्याप्ताप्यानमूर्तिश्च सार्धं स्वयशसा मुनिः ।
कान्तिधैर्ये बभारैकः शशाङ्कार्णवयोर्द्वयोः ॥ ११३ ॥

उस मुनि ने अपनी कीर्ति के साथ पर्याप्त शारीरिक वृद्धि पाई एवं उस अकेले ने चन्द्रमा एवं सागर (दोनों) की कान्ति एवं धैर्य धारण किया ॥ ११३ ॥

आवृत्त इति विज्ञाय तं जहुः पञ्च भिक्षवः ।
मनीषिणमिवात्मानं निर्मुक्तं पञ्च धातवः ॥ ११४ ॥

पाँचों भिक्षुओं ने उसे (धर्म से) निवृत्त समझकर छोड़ दिया जिस प्रकार मुक्त हुए विद्वान् आत्मा को पाँचों धातुएँ छोड़ देती हैं ॥ ११४ ॥

व्यवसायद्वितीयोऽथ शाद्वलास्तीर्णभूतलम् ।
सोऽश्वत्थमूलं प्रययौ बोधाय कृतनिश्चयः ॥ ११५ ॥

तब बोध पानेके लिये निश्चय करके वह तृणोंसे आच्छादित भूमि वाले अश्वत्थ के मूलमें अपने (एक मात्र साथी) निश्चय के साथ गया ॥ ११५ ॥

ततस्तदानीं गजराजविक्रमः पदस्वनेनानुपमेन बोधितः ।
महामुनेरागतबोधिनिश्चयो जगाद कालो भुजगोत्तमः स्तुतिम् ॥११६॥

तब उस समय गजराज के समान पराक्रमी 'काल' नामक उत्तम सर्प ने '(यह मुनि) बोधि-प्राप्ति के लिये आया है'—ऐसा निश्चय करके अपनी उत्तम पद ध्वनि से उसे जगाकर महामुनि की स्तुति की ॥ ११६ ॥

यथा मुने त्वच्चरणावपीडिता मुहुर्मुहुर्निष्टनतीव मेदिनी ।
यथा च ते राजति सूर्यवत्प्रभा ध्रुवत्वमिष्टं फलमद्य भोक्ष्यसे ॥११७॥

हे मुने ! क्योंकि आपके चरणोंसे आक्रान्त होकर पृथ्वी बारम्बार बजती है और आपकी प्रभा सूर्य सदृश चमकती है। अतः आज अवश्य ही आप वाञ्छित फल भोगेंगे ॥ ११७ ॥

यथा भ्रमन्त्यो दिवि चाषपङ्क्तयः प्रदक्षिणं त्वां कमलाक्ष कुर्वते ।
यथा च सौम्या दिवि वान्ति वायवस्त्वमद्य बुद्धो नियतं भविष्यसि ॥११८॥

हे कमलनयन ! क्योंकि (नीलकण्ठ) पक्षियों की पंक्तियां आकाश में घूमती हुई आपकी परिक्रमा करती हैं और आकाश में मन्द पवन वह रहा है, अतः आज अवश्य ही आप 'बुद्ध' हो जावेंगे ॥ ११८ ॥

ततो भुजङ्गप्रवरेण संस्तुतस्तृणान्युपादाय शुचीनि लावकात् ।
कृतप्रतिज्ञो निषसाद बोधये महातरोर्मूलमुपाश्रितः शुचेः ॥ ११९ ॥

तब भुजङ्गश्रेष्ठ के द्वारा स्तुति किये जाने पर, वह काटने वालों से पवित्र तृण लेकर बोध-प्राप्ति के लिये प्रतिज्ञा करके पवित्र महावृक्ष के मूल का सहारा लेकर बैठा ॥ ११९ ॥

ततः स पर्यंकमकम्प्यमुत्तमं बबन्ध सुप्तोरगभोगपिण्डितम् ।
भिनद्मि तावद् भुवि नैतदासनं न यामि यावत्कृतकृत्यतामिति ॥१२०॥

तब उसने, "जब तक कृतार्थ नहीं हो जाऊँगा तब तक पृथ्वी पर इस आसन को नहीं तोड़ूँगा'—ऐसा निश्चय करके, उत्तम अचल एवं सोये हुए सर्प के फण के समान पिण्डाकार पर्यङ्क आसन बाँधा ॥ १२० ॥

ततो ययुर्मुदमतुलां दिवौकसो ववाशिरे न मृगगणा न पक्षिणः ।
न सस्वनुर्वनतरवोऽनिलाहताः कृतासने भगवति निश्चितात्मनि ॥ १२१ ॥

इति पूर्वबुद्धचरितमहाकाव्ये अराड-दर्शनो
नाम द्वादशः सर्गः

जब निश्चयपूर्वक भगवान् ने आसन बाँधा, तब देवता अत्यन्त प्रमुदित हुए। न मृग गण बोले और न पक्षी, तथा वायु चलने पर भी वन के वृक्षों से शब्द नहीं हुआ ॥ १२१ ॥

यह पूर्वबुद्धचरित महाकाव्य में अराड-दर्शन नामक
द्वादश सर्ग समाप्त हुआ

अथ त्रयोदशः सर्गः

मारविजयः

मार की पराजय

तस्मिन्विमोक्षाय कृतप्रतिज्ञे राजर्षिवंशप्रभवे महर्षौ ।
तत्रोपविष्टे प्रजहर्ष लोकस्तत्रास सद्धर्मरिपुस्तु मारः ॥ १ ॥

राजऋषि वंश में उत्पन्न होनेवाले उस महाऋषि के, मोक्ष के लिए वहाँ प्रतिज्ञापूर्वक बैठ जाने पर संसार तो प्रसन्न हुआ, किन्तु सद्धर्म का शत्रु 'मार' भयभीत हुआ ॥ १ ॥

यं कामदेवं प्रवदन्ति लोके चित्रायुधं पुष्पशरं तथैव ।
कामप्रचाराधिपतिं तमेव मोक्षद्विषं मारमुदाहरन्ति ॥ २ ॥

संसार में जिसको 'कामदेव' कहते हैं तथा 'चित्रधन्वा' एवं 'पुष्पबाण' कहते हैं, जो मोक्ष का शत्रु है तथा विषय-प्रचारकों का अधिपति है उसे 'मार' भी कहते हैं ॥ २ ॥

तस्यात्मजा विभ्रमहर्षदर्पास्तिस्रोऽरतिप्रीतितृषश्च कन्याः ।
पप्रच्छुरेनं मनसो विकारं स तांश्च ताश्चैव वचोऽभ्युवाच ॥ ३ ॥

उसके तीन पुत्र हैं—विभ्रम, हर्ष एवं दर्प। तीन कन्याएँ हैं—अरति, प्रीति, एवं तृषा। उन्होंने इससे मनोविकार (का कारण) पूछा। उसने उन पुत्रों एवं कन्याओं को यह वचन कहा ॥ ३ ॥

असौ मुनिर्निश्चयवर्म बिभ्रत्सत्त्वायुधं बुद्धिशरं विकृष्य ।
जिगीषुरास्ते विषयान्मदीयाँस्तस्मादयं मे मनसो विषादः ॥ ४ ॥

इस मुनि ने निश्चय कवच एवं सत्त्व रूप धनुष धारण कर, बुद्धि रूप बाण तानकर हमारे विषयों (राज्यों) को जीतने की इच्छा की है। अतः मुझे यह मानसिक दुःख है ॥ ४ ॥

यदि ह्यसौ मामभिभूय याति लोकाय चाख्यात्यपवर्गमार्गम् ।
शून्यस्ततोऽयं विषयो ममाद्य वृत्ताच्च्युतस्येव विदेहभर्तुः ॥ ५ ॥

यदि यह मुझे जीत लेता है एवं संसार के लिये मोक्ष-मार्ग बताता है तो रा विषय (राज्य) आज उसी प्रकार शून्य हो जावेगा, जिस प्रकार सदाार से च्युत होने पर (निमि) विदेह का हो गया था ॥ ५ ॥

तद्यावदेवैष न लब्धचक्षुर्मद्गोचरे तिष्ठति यावदेव ।
यास्यामि तावद्व्रतमस्य भेत्तुं सेतुं नदीवेग इवातिवृद्धः ॥ ६ ॥

अतः जब तक यह ज्ञान-दृष्टि प्राप्त नहीं करता तथा जब तक हमारे क्षेत्र स्थित है, तब तक इसका व्रत-भंग करने के लिए, बाँध तोड़नेके लिए नदी अत्यन्त बढे हुए वेग की तरह जाऊँगा ॥ ६ ॥

ततो धनुः पुष्पमयं गृहीत्वा शरान् जगन्मोहकरांश्च पञ्च ।
सोऽश्वत्थमूलं ससुतोऽभ्यगच्छदस्वास्थ्यकारी मनसः प्रजानाम् ॥७॥

तब प्रजाओं के मन को अस्वस्थ करनेवाला वह 'मार' पुष्पों का धनुष एवं संसार को मोहित करनेवाले पाँचों बाणों को लेकर अपने पुत्रों सहित अश्वत्थ के मूल में गया ॥ ७ ॥

अथ प्रशान्तं मुनिमासनस्थं पारं तितीर्षुं भवसागरस्य ।
विषज्य सव्यं करमायुधाग्रे क्रीडन् शरेणेदमुवाच मारः ॥ ८ ॥

तब धनुष के अग्र भाग पर बायाँ हाथ अड़ाकर बाणों से खेलते हुए, मार ने, आसन पर स्थित प्रशान्त एवं भवसागर के पार जाने की इच्छा वाले मुनि से ऐसा कहा—॥ ८ ॥

उत्तिष्ठ भोः क्षत्रिय मृत्युभीत चर स्वधर्मं त्यज मोक्षधर्मम् ।
बाणैश्च यज्ञैश्च विनीय लोकं लोकात्पदं प्राप्नुहि वासवस्य ॥ ९ ॥

मृत्यु से डरनेवाले, हे क्षत्रिय ! उठो । अपने धर्म का आचरण करो । मोक्ष त्यागो । बाणों एवं यज्ञों से संसार को जीतकर (इस) लोक से इन्द्र का पद प्राप्त करो ॥ ९ ॥

पन्था हि निर्यातुमयं यशस्यो यो वाहितः पूर्वतमैर्नरेन्द्रैः ।
जातस्य राजर्षिकुले विशाले भैक्षाकमश्लाघ्यमिदं प्रपत्तुम् ॥ १० ॥

(यहां से) निकलने का यही प्रशंसनीय मार्ग है। पूर्वातिपूर्व नरेन्द्रों ने इसी मार्ग का सेवन किया है। विशाल राज-ऋषि कुल में उत्पन्न होने वाले के लिए इस भिक्षा-वृत्ति का सहारा लेना श्लाघ्य नहीं है ॥ १० ॥

अथाद्य नोत्तिष्ठसि निश्चितात्मन् भव स्थिरो मा विमुचः प्रतिज्ञाम् ।
मयोद्यतो ह्येष शरः स एव यः शूर्पके मीनरिपौ विमुक्तः ॥ ११ ॥

हे निश्चितात्मन् ! यदि आज नहीं उठते हो तो स्थिर हो जाओ, प्रतिज्ञा मत छोड़ो। मैने यह वही बाण उठाया है जो मीन के शत्रु शूर्पक पर छोड़ा था ॥ ११ ॥

स्पृष्टः स चानेन कथंचिदैडः सोमस्य नप्ताप्यभवद्विचित्तः ।
स चाभवच्छन्तनुरस्वतन्त्रः क्षीणे युगे किं बत दुर्बलोऽन्यः ॥ १२ ॥

चन्द्रमा का नाती 'ऐड' इस बाण के स्पर्श मात्र से विचलित हो गया था। और वह शन्तनु भी परवश हो गया था, फिर इस क्षीण युग में दूसरे दुर्बल की तो बात ही क्या ? ॥ १२ ॥

तत्क्षिप्रमुत्तिष्ठ लभस्व संज्ञां बाणो ह्ययं तिष्ठति लेलिहानः ।
प्रियाविधेयेषु रतिप्रियेषु यश्चक्रवाकेष्विव नोत्सृजामि ॥ १३ ॥

अतः शीघ्र उठो, चेत जाओ। यह बाण चाट जानेवाला है। जो चक्रवाकों के समान रतिप्रिय हैं तथा अपनी प्रियाओं के अनुकूल हैं, उनमें इसे नहीं छोड़ता हूँ ॥ १३ ॥

इत्येवमुक्तोऽपि यदा निरास्थो नैवासनं शाक्यमुनिर्बिभेद ।
शरं ततोऽस्मै विससर्ज मारः कन्याश्च कृत्वा पुरतः सुतांश्च ॥१४॥

इस प्रकार कहे जाने पर भी, जब शाक्यमुनि ने उपेक्षा की एवं आसन नहीं तोड़ा, तब कन्याओं एवं पुत्रों को आगे करके मार ने उसके ऊपर बाण छोड़ दिया ॥ १४ ॥

तस्मिंस्तु बाणेऽपि स विप्रमुक्ते चकार नास्थां न धृतेश्चचाल ।
दृष्ट्वा तथैनं विषसाद मारश्चिन्तापरीतश्च शनैर्जगाद ॥ १५ ॥

किन्तु उस बाण के छोड़े जाने पर भी उस (मुनि) ने, न अपेक्षा की और न धैर्य छोड़ा। उसको वैसा ही देखकर, मार दुःखी हुआ एवं चिन्ता व्याकुल होता हुआ धीरे से बोला—॥ १५ ॥

शैलेन्द्रपुत्रीं प्रति येन विद्धो देवोऽपि शम्भुश्चलितो बभूव।
न चिन्तयत्येष तमेव बाणं किं स्यादचित्तो न शरः स एषः ॥१६॥

जिससे विद्ध होकर शम्भु देव भी पार्वती के प्रति चलायमान हुए थे, यह उस बाण की चिन्ता नहीं कर रहा है। क्या यह बिना चित्त का है अथवा यह 'वह' बाण नहीं है ? ॥ १६ ॥

तस्मादयं नार्हति पुष्पबाणं न हर्षणं नापि रतेर्नियोगम्।
अर्हत्ययं भूतगणैरसौम्यैः संत्रासनातर्जनताडनानि ॥ १७ ॥

अतः यह पुष्पबाण, हर्षण अथवा रति-प्रयोग के लिए उपयुक्त नहीं है। यह तो भयंकर भूतगणों से डरवाने, बिचकाने एवं पिटवाने के योग्य है ॥ १७ ॥

सस्मार मारश्च ततः स्वसैन्यं विघ्नं शमे शाक्यमुनेश्चिकीर्षन्।
नानाश्रयाश्चानुचराः परीयुः शैलद्रुमप्रासगदासिहस्ताः ॥१८॥

तब शाक्यमुनि की शान्ति में विघ्न करने की इच्छा से मार ने अपनी सेना का स्मरण किया। तब पहाड़, वृक्ष, बरछी, गदा, तलवार हाथ में लिए अनेक आकार वाले अनुचरों ने उसको चारों ओर से घेर लिया ॥ १८ ॥

वराहमीनाश्वखरोष्ट्रवक्त्रा व्याघ्रर्क्षसिंहद्विरदाननाश्च।
एकेक्षणा नैकमुखास्त्रिशीर्षा लम्बोदराश्चैव पृषोदराश्च ॥ १९ ॥

सूअर, मछली, घोड़े, गधे, एवं ऊँट की तरह मुखवाले तथा बाघ, भालू, सिंह, हाथी के मुखवाले एक नेत्र, अनेक मुख, तीन शिर, लम्बे पेट एवं तुचके पेटवाले ॥ १९ ॥

अजानुसक्था घटजानवश्च दंष्ट्रायुधाश्चैव नखायुधाश्च।
करंकवक्त्रा बहुमूर्तयश्च भग्नार्धवक्त्राश्च महामुखाश्च ॥ २० ॥

घुटना रहित, जांघ रहित, घड़ेके समान जांघवाले, तीक्ष्ण दाँत, तीक्ष्ण

नखवाले, कंकाल के समान मुखवाले, विभिन्न प्रकार के रूपवाले, आधे मुख कटे विकराल मुखवाले थे ॥ २० ॥

भस्मारुणा लोहितबिन्दुचित्राः खट्वाङ्गहस्ता हरिधूम्रकेशाः ।
लम्बस्रजो वारणलम्बकर्णाश्चर्माम्बराश्चैव निरम्बराश्च ॥ २१ ॥

भस्म लपेटे, लाल बिन्दुओंसे चित्र-विचित्र, हाथ में शस्त्र धारण किये हुए, वानर सदृश धूम्र बाल, लम्बी-लम्बी मालाएँ पहिने, हाथियों के समान लम्बे कानवाले, कुछ चमड़ा पहिने तथा कुछ नग्न थे ॥ २१ ॥

श्वेतार्धवक्त्रा हरितार्धकायास्ताम्राश्च धूम्रा हरयोऽसिताश्च ।
व्यालोत्तरासङ्गभुजास्तथैव प्रघुष्टघण्टाकुलमेखलाश्च ॥ २२ ॥

कुछ का आधा मुख सफेद, आधा शरीर हरा, कुछ तामिया धूम्र हरे काले रंग का था । कुछ की भुजाएँ सांपों से लिपटी थीं, कुछ बजती हुई घंटियोंवाली करधनी पहने थे ॥ २२ ॥

तालप्रमाणाश्च गृहीतशूला दंष्ट्राकरालाश्च शिशुप्रमाणाः ।
उरभ्रवक्त्राश्च विहंगमाक्षा मार्जारवक्त्राश्च मनुष्यकायाः ॥ २३ ॥

कुछ ताल वृक्ष के समान लम्बे, त्रिशूल धारी, बच्चों के सदृश छोटे, दांतों से भयंकर, भेड़ों के सदृश मुखवाले, विहंगों जैसी आंखें, बिलाव जैसे मुख, एवं (कुछ) मनुष्य शरीरवाले थे ॥२३ ॥

प्रकीर्णकेशाः शिखिनोऽर्धमुण्डा रक्ताम्बरा व्याकुलवेष्टनाश्च ।
प्रहृष्टवक्त्रा भृकुटीमुखाश्च तेजोहराश्चैव मनोहराश्च ॥ २४ ॥

कुछ बिखरे बाल के शिखावाले, अर्धमुण्डित, लाल वस्त्र पहिने, लथपथ पगड़ी बांधे, हँसमुख, भौंह से ढके मुखवाले, तेज हर लेनेवाले तथा मन हर लेनेवाले थे ॥ २४ ॥

केचिद् व्रजन्तो भृशमाववल्गुरन्योन्यमापुप्लुविरे तथान्ये ।
चिक्रीडुराकाशगताश्च केचित् केचिच्च चेरुस्तरुमस्तकेषु ॥ २५ ॥

कुछ चलते हुए खूब कूदते थे, कुछ एक दूसरे पर उचटते थे, कुछ आकाश में जाकर लीला कर रहे थे, कुछ वृक्षों के ऊपर ही ऊपर शिखरों पर चलते थे ॥ २५ ॥

ननर्त कश्चिद् भ्रमयंस्त्रिशूलं कश्चिद्विपुस्फूर्ज गदां विकर्षन् ।
हर्षेण कश्चिद् वृषवन्ननर्द कश्चित्प्रजज्वाल तनूरुहेभ्यः ॥ २६ ॥

कोई त्रिशूल घुमाता हुआ नाचता था, कोई गदा तानता हुआ फुदकता था, कोई हर्ष से सांड़ सदृश गरजता था, तथा कोई केशों से प्रज्वलित था ॥ २६ ॥

एवंविधा भूतगणाः समन्तात्तद्बोधिमूलं परिवार्य तस्थुः ।
जिघृक्षवश्चैव जिघांसवश्च भर्तुर्नियोगं परिपालयन्तः ॥ २७ ॥

इस प्रकार के भूतगण उस बोधिवृक्ष के मूल को चारों ओर से घेर कर खड़े हो गये। वे पकड़ना चाह रहे थे, मारना चाह रहे थे किन्तु स्वामी की आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहे थे ॥ २७ ॥

तं प्रेक्ष्य मारस्य च पूर्वरात्रे शाक्यर्षभस्यैव च युद्धकालम् ।
न द्यौश्चकाशे पृथिवी चकम्पे प्रजज्वलुश्चैव दिशः सशब्दाः ॥ २८ ॥

रात्रि के आरम्भ में शाक्यऋषभ एवं मार का वह युद्धकाल देखकर आकाश मलिन पड़ गया, पृथ्वी कांप उठी, दिशाएँ शब्द करती हुई जलने लगीं ॥ २८ ॥

विष्वग्ववौ वायुरुदीर्णवेगस्तारा न रेजुर्न बभौ शशाङ्कः ।
तमश्च भूयो विततान रात्रिः सर्वे च संचुक्षुभिरे समुद्राः ॥ २९ ॥

हवा चारों ओर जोरों से चली, न तो तारागण ही शोभित हुए और न चन्द्रमा ही, रात्रि ने और अधिक अन्धकार फैलाया एवं समस्त समुद्र क्षुब्ध हो उठे ॥ २९ ॥

महीभृतो धर्मपराश्च नागा महामुनेर्विघ्नममृष्यमाणाः ।
मारं प्रति क्रोधविवृत्तनेत्रा निःशश्वसुश्चैव जजृम्भिरे च ॥ ३० ॥

पृथ्वी धारण करनेवाले धर्मपरायण नागों (शेषों) ने महामुनि के विघ्न न सहते हुए, मार के प्रति क्रोध से आँखें तरेरकर फुफुकार छोड़ा एवं जंभाइयाँ लीं ॥ ३० ॥

शुद्धाधिवासा विबुधर्षयस्तु सद्धर्मसिद्ध्यर्थमभिप्रवृत्ताः ।
मारेऽनुकम्पां मनसा प्रचक्रुर्विरागभावात्तु न रोषमीयुः ॥ ३१ ॥

सद्धर्म की सिद्धि में लगे हुए शुद्धाधिवास देव ऋषियों ने मन से मार के प्रति अनुकम्पा की, उदासीन होनेके कारण उन्होंने क्रोध नहीं किया ॥३१॥

तद्बोधिमूलं समवेक्ष्य कीर्णं हिंसात्मना मारबलेन तेन ।
धर्मात्मभिर्लोकविमोक्षकामैर्बभूव हाहाकृतमंतरीक्षे ॥ ३२ ॥

उस हिंसा परायण मार-सेना से उस बोधिमूल को घिरा हुआ देखकर संसार से मोक्ष चाहनेवाले धर्मात्माओं ने अन्तरिक्ष में हाहाकार किया ॥३२॥

उपप्लवं धर्मविधेस्तु तस्य दृष्ट्वा स्थितं मारबलं महर्षिः ।
न चुक्षुभे नापि ययौ विकारं मध्ये गवां सिंह इवोपविष्टः ॥३३॥

महर्षि उस धर्मविधि के विघ्न स्वरूप मार-बल को वहां स्थित देखकर भी गायों के मध्य में बैठे हुए सिंह के समान न तो क्षुब्ध हुआ और न विकृत ही हुआ ॥ ३३ ॥

मारस्ततो भूतचमूमुदीर्णामाज्ञापयामास भयाय तस्य ।
स्वैः स्वैः प्रभावैरथ सास्य सेना तद्धैर्यभेदाय मतिं चकार ॥३४॥

तब मार ने उद्यत सेना को उसे डरवाने की आज्ञा दी। तब उसकी उस सेना ने अपने-अपने प्रभावों से उसका धैर्य तोड़ने का विचार किया ॥ ३४ ॥

केचिच्चलन्नैकविलम्बिजिह्वास्तीक्ष्णाग्रदंष्ट्रा हरिमण्डलाक्षाः ।
विदारितास्याः स्थिरशंकुकर्णाः संत्रासयन्तः किल नाम तस्थुः ॥३५॥

कुछ भूत लपलपाती हुई अनेक व लम्बी जीभवाले तीक्ष्ण दांतवाले, सूर्यमण्डल सदृश (बड़ीगोल) आंखवाले, वज्र के समान दृढ़ कानवाले, मुँह फाड़कर उसको डराते हुए वहां खड़े हो गये ॥ ३५ ॥

तेभ्यः स्थितेभ्यः स तथाविधेभ्यः रूपेण भावेन च दारुणेभ्यः ।
न विव्यथे नोद्विविजे महर्षिः क्रीडत्सु बालेभ्य इवोद्धतेभ्यः ॥३६॥

(वहां) खड़े होकर उस प्रकार के रूप एवं भाव से उन भयंकर भूतों से वह महर्षि न तो व्यथित हुआ और न उद्विग्न हुआ। जिस प्रकार खेल में उत्तेजित बालकों से न व्यथा होती है और न उद्वेग ही ॥ ३६ ॥

कश्चित्ततो रोषविवृत्तदृष्टिस्तस्मै गदामुद्यमयांचकार ।
तस्तम्भ बाहुः सगदस्ततोऽस्य पुरन्दरस्येव पुरा सवज्रः ॥ ३७ ॥

तब किसी ने क्रोध से आँखें तरेरते हुए उसके ऊपर गदा उठाई किन्तु उसका गदा सहित हाथ जकड़ गया, जिस प्रकार पूर्वकाल में इन्द्र का वज्र सहित हाथ जकड़ गया था ॥ ३७ ॥

केचित्समुद्यम्य शिलास्तरूंश्च विषेहिरे नैव मुनौ विमोक्तुम् ।
पेतुः सवृक्षाः सशिलास्तथैव वज्रावभग्ना इव विन्ध्यपादाः ॥३८॥

कुछ (भूतों) ने शिलाएँ एवं वृक्ष उठाये, किन्तु मुनि के उपर छोड़ने में समर्थ नहीं हुए अपितु वृक्ष एवं शिला सहित (स्वयं) गिर पड़े मानो वज्र से फूटे हुए विन्ध्य-शिखर हों ॥ ३८ ॥

कैश्चित्समुत्पत्य नभो विमुक्ताः शिलाश्च वृक्षाश्च परश्वधाश्च ।
तस्थुर्नभस्येव न चावपेतुः संध्याभ्रपादा इव नैकवर्णाः ॥३९॥

कुछ ने तो आकाश मे उड़कर शिलाएँ वृक्ष एवं कुल्हाड़े फेंके थे किन्तु वे नीचे नहीं गिरे (अपितु) आकाश में ही टँगे रहे, मानो सन्ध्याकालीन मेंघ के चित्र-विचित्र टुकड़े हों ॥ ३६ ॥

चिक्षेप तस्योपरि दीप्तमन्यः कडङ्गरं पर्वतशृङ्गमात्रम् ।
यन्मुक्तमात्रं गगनस्थमेव तस्यानुभावाच्छतधा पफाल ॥ ४० ॥

(एक) अन्य ने पर्वत-शिखराकार जलता हुआ लोहे का गोला उसके ऊपर फेंका, जो फेंकने के साथ ही उस मुनि के प्रभाव से आकाश में ही सैकड़ों खण्डो में छिन्न-भिन्न हो गया ॥ ४० ॥

कश्चिज्ज्वलन्नर्क इवोदितः खादङ्गारवर्षं महदुत्ससर्ज ।
चूर्णानि चामीकरकन्दराणां कल्पात्यये मेरुरिव प्रदीप्तः ॥ ४१ ॥

किसी ने उदयकालीन सूर्य सदृश बड़े-बड़े जलते हुए अङ्गारों की वर्षा आकाश से कर दी मानो कल्पान्त में जलता हुआ सुमेरु स्वर्ण शिलाओं के चूर्ण बरसा रहा हो ॥ ४१ ॥

तद्बोधिमूले प्रविकीर्यमाणमंगारवर्षं तु सविस्फुलिंगम् ।
मैत्रीविहारादृषिसत्तमस्य बभूव रक्तोत्पलपत्रवर्षः ॥ ४२ ॥

उस बोधिवृक्ष के मूल में जो चिनगारियों के साथ अङ्गारों की वृष्टि

फैलाई जा रही थी वह ऋषिश्रेष्ठ के मैत्री विहार के कारण लाल कमल के पत्तों की वृष्टि बन गई ॥ ४२ ॥

शरीरचित्तव्यसनातपैस्तैरेवंविधैस्तैश्च निपात्यमानैः ।
नैवासनाच्छाक्यमुनिश्चचाल स्वनिश्चयं बन्धुमिवोपगुह्य ॥ ४३ ॥

शरीर एवं चित्त को दुःखी एवं संतप्त करनेवाले उस प्रकार के (कारण) गिराये जाने पर भी, शाक्यमुनि अपने निश्चय को बन्धु के समान पकड़कर आसन से विचलित नहीं हुए ॥ ४३ ॥

अथापरे निर्जिगिलुर्मुखेभ्यः सर्पान्विजीर्णेभ्य इव द्रुमेभ्यः ।
ते मन्त्रबद्धा इव तत्समीपे न शश्वसुर्नोत्ससृपुर्न चेलुः ॥ ४४ ॥

तत्र फिर कुछ भूतों ने (अपने) मुखों से साँप उगले जैसे पुराने वृक्षों से। वे (सांप) मन्त्र से बंधे हुए की तरह उसके समीप न तो फुफकारे, न ऊपर उठे और न चले ही ॥ ४४ ॥

भूत्वापरे वारिधरा बृहन्तः सविद्युतः साशनिचण्डघोषाः ।
तस्मिन्द्रुमे तत्यजुरश्मवर्षं तत्पुष्पवर्षं रुचिरं बभूव ॥ ४५ ॥

कुछ भूतों ने वज्र की भयंकर गर्जना की एवं बिजली युक्त विशाल बादल बनकर वृक्षके समान उस पर पत्थर की वृष्टि की (किन्तु) वह रुचिर पुष्प-वृष्टि बन गई ॥ ४५ ॥

चापेऽथ बाणो निहितोऽपरेण जज्वाल तत्रैव न निष्पपात ।
अनीश्वरस्यात्मनि धूयमानो दुर्मर्षणस्येव नरस्य मन्युः ॥ ४६ ॥

(एक) दूसरे ने चाप पर बाण रखा, (वह बाण) वहीं जल गया तथा निकलकर आगे नहीं बढ़ा—जैसे गरीब क्रोधी का रोष अन्दर ही अन्दर धधकता है ॥ ४६ ॥

पञ्चेषवोऽन्येन तु विप्रमुक्तास्तस्थुर्नभस्येव मुनौ न पेतुः ।
संसारभीरोर्विषयप्रवृत्तौ पञ्चेन्द्रियाणीव परीक्षकस्य ॥ ४७ ॥

अन्य भूतों के द्वारा छोड़े गये पांच बाण आकाश में ही रुक गये (तथा) मुनि पर नहीं गिरे—जैसे संसार से उद्विग्न (मोक्षार्थी) साधक की पांचों इन्द्रियां विषय में प्रवृत्त नहीं होती हैं ॥ ४७ ॥

जिघांसयान्यः प्रससार रुष्टो गदां गृहीत्वाभिमुखो महर्षेः।
सोऽप्राप्तकामो विवशः पपात दोषेष्विवानर्थकरेषु लोकः ॥ ४८ ॥

एक अन्य भूत, मार डालने की इच्छा से कुपित होकर गदा लिए हुए मुनि के सम्मुख दौड़ा (किन्तु) बीच में ही विफल हो व्याकुल होकर गिर पड़ा जैसे (परवश) मनुष्य अनर्थकारी विषयों में गिरता है ॥ ४८ ॥

स्त्री मेघकाली तु कपालहस्ता कर्तुं महर्षेः किल चित्तमोहम्।
बभ्राम तत्रानियतं न तस्थौ चलात्मनो बुद्धिरिवागमेषु ॥ ४९ ॥

(एक) मेघ सदृश काली स्त्री हाथ में कपाल लिये हुए, महर्षि के चित्त को मोहित करने के लिए, (आई) किन्तु वहां पगली जैसी चक्कर काटने लगी स्थिर न हो सकी—जैसे चंचल चित्त वाले की बुद्धि शास्त्रों में स्थिर नहीं रहती (चक्कर काटती है) ॥ ४९ ॥

कश्चित्प्रदीप्तं प्रणिधाय चक्षुर्नेत्राग्निनाशीविषवद्दिधक्षुः।
तत्रैव नासीनमृषिं ददर्श कामात्मकः श्रेय इवोपदिष्टम् ॥ ५० ॥

किसी भूत ने विषैले सर्प के समान आँखें तीक्ष्ण करके नेत्राग्नि से उसे चलाना चाहा, किन्तु वहीं बैठे हुए ऋषि को नहीं देख सका—जैसे कामी पुरुष बताये हुए कल्याण को नहीं देखता है ॥ ५० ॥

गुर्वी शिलामुद्यमयंस्तथान्यः शश्राम मोघं विहतप्रयत्नः।
निःश्रेयसं ज्ञानसमाधिगम्यं कायक्लमैर्धर्ममिवाप्तुकामः ॥ ५१ ॥

उसी प्रकार एक भूत ने भारी शिला को उठाते हुए बहुत प्रयत्न किया (किन्तु) व्यर्थ थक गया—जैसे ज्ञान एवं समाधि से प्राप्त होने योग्य मोक्ष धर्म को शारीरिक क्लेश से पाने की इच्छा करनेवाला व्यर्थ परिश्रम करता है ॥ ५१ ॥

तरक्षुसिंहाकृतयस्तथान्ये प्रणेदुरुच्चैर्महतः प्रणादान्।
सत्त्वानि यैः संचुकुचुः समन्ताद्वज्राहतः द्यौः फलतीति मत्वा ॥५२॥

व्याघ्र एवं सिंह के आकार के कुछ अन्य भूतों ने बहुत जोरों से महान् गर्जना की, जिससे (भयभीत होकर) जीव जन्तु चारों ओर छुक

छिप गये—यह सोच कर कि वज्र से आहत होकर आकाश फट रहा है ॥ ५२ ॥

मृगा गजाश्चार्तरवान् सृजन्तो विदुद्रुवुश्चैव निलिल्यिरे च ।
रात्रौ च तस्यामहनीव दिग्भ्यः खगा रुवन्तः परिपेतुरार्ताः ॥ ५३ ॥

मृग एवं हाथी आर्तनाद करते हुए भागे एवं छिपे। पक्षी भयभीत होकर उस रात्रि में भी दिन की भांति बोलते हुए चारों ओर उड़ने लगे ॥५३॥

तेषां प्रणादैस्तु तथाविधैस्तैः सर्वेषु भूतेष्वपि कम्पितेषु ।
मुनिर्न तत्रास न संचुकोच रवैर्गरुत्मानिव वायसानाम् ॥ ५४ ॥

उनके उन तत्तत्प्रकार के शब्दों से सब जीवों के भय-कम्पित होने पर भी मुनि न डरा और न सिकुड़ा। जैसे कौओं के शब्द से गरुड़ न डरता है और न सिकुड़ता है ॥ ५४ ॥

भयावहेभ्यः परिषद्गणेभ्यो यथा यथा नैव मुनिर्बिभाय ।
तथा तथा धर्मभृतां सपत्नः शोकाच्च रोषाच्च ससाद मारः ॥५५॥

(उन) भयावह परिषद् गणोंसे ज्यों-ज्यों मुनि निडर रहा, त्यों-त्यों धर्मात्माओं के शत्रु 'मार' को शोक एवं रोष के कारण विषाद हुआ ॥ ५५ ॥

भूतं ततः किंचिददृश्यरूपं विशिष्टभूतं गगनस्थमेव ।
दृष्ट्वर्षये द्रुग्धमवैररुष्टं मारं बभाषे महता स्वरेण ॥ ५६ ॥

तब अदृश्य रूप किसी विशिष्ट जीव ने आकाश से ही मार को, ऋषि के प्रति द्रोह करते तथा बिना वैर के क्रुद्ध देखकर, गम्भीर स्वर में कहा—॥ ५६ ॥

मोघं श्रमं नार्हसि मार कर्तुं हिंस्रात्मतामुत्सृज गच्छ शर्म ।
नैष त्वया कम्पयितुं हि शक्यो महागिरिर्मेरुरिवानिलेन ॥ ५७ ॥

हे मार ! व्यर्थ परिश्रम मत करो। हत्यारापन छोड़ों, शान्त हो जाओ। तुम इसे उसी प्रकार नहीं डिगा सकते हो, जिस प्रकार सुमेरु हवा से नहीं हिल सकता है ॥ ५७ ॥

अप्युष्णभावं ज्वलनः प्रजह्यादापो द्रवत्वं पृथिवी स्थिरत्वम् ।
अनेककल्पाचितपुण्यकर्मा न त्वेव जह्याद् व्यवसायमेषः ॥५८॥

अग्नि चाहे उष्णता छोड़ दे, जल चाहे द्रवत्व छोड़ दे तथा पृथ्वी स्थिरता छोड़ दे, किन्तु अनेक जन्मसे पुण्य एकत्रित करने वाला यह (मुनि) अपना निश्चय नहीं छोड़ेगा ॥ ५८ ॥

यो निश्चयो ह्यस्य पराक्रमश्च तेजश्च यद् या च दया प्रजासु ।
अप्राप्य नोत्थास्यति तत्त्वमेष तमांस्यहत्वेव सहस्ररश्मिः ॥ ५९ ॥

इसका जो निश्चय है, पराक्रम है, तेज है एवं प्राणियों पर दया है, उससे विश्वास होता है कि यह तत्त्व प्राप्त किये बिना नहीं उठेगा, जैसे अन्धकार को नष्ट किये बिना सूर्य नहीं उगता है ॥ ५६ ॥

काष्ठं हि मथ्नन् लभते हुताशं भूमिं खनन्विन्दति चापि तोयम् ।
निर्बन्धिनः किंचन नास्त्यसाध्यं न्यायेन युक्तं च कृतं च सर्वम् ॥६०॥

काष्ठ-घर्षण करते हुए (मनुष्य) अग्नि पाता है एवं पृथ्वी खोदते हुए जल पाता है। दृढ़प्रतिज्ञ के लिए कुछ भी असाध्य नहीं है। न्याय से करने पर सब कुछ किया जा सकता है ॥ ६० ॥

तल्लोकमार्तं करुणायमानो रोगेषु रागादिषु वर्तमानम् ।
महाभिषङ् नार्हति विघ्नमेष ज्ञानौषधार्थं परिखिद्यमानः ॥ ६१ ॥

शारीरिक एवं मानसिक रोगों में पड़े हुए दुःखी जगत् पर करुणा करने वाले मुनि, विघ्न करने योग्य नहीं हैं। यह महावैद्य ज्ञान रूप औषधि के लिये कष्ट सह रहे हैं ॥ ६१ ॥

हृते च लोके बहुभिः कुमार्गैः सन्मार्गमन्विच्छति यः श्रमेण ।
स दैशिकः क्षोभयितुं न युक्तं सुदेशिकः सार्थ इव प्रनष्टे ॥६२॥

जो मुनि, अनेक कुपन्थों द्वारा हरण किये जा रहे संसार के लिये, परिश्रम पूर्वक सन्मार्ग खोज रहा है, उस उपदेशक (पथ-प्रदर्शक) को विचलित करना उचित नहीं—जैसे वन-पथ भूल जाने वाले व्यापारी के लिये मार्गदर्शक द्वारा क्षुब्ध करना उचित नहीं है ॥ ६२ ॥

सत्त्वेषु नष्टेषु महान्धकारे ज्ञानप्रदीपः क्रियमाण एषः ।
आयस्य निर्वापयितुं न साधु प्रज्वाल्यमानस्तमसीव दीपः ॥६३॥

(संसार से) सत्व (सात्त्विक) भावों के नष्ट हो जाने पर महा अन्धकार फैल रहा है (उसमें) यह ज्ञान प्रदीप जला रहा है। अन्धेरे में जलाये जा रहे दीप को बुझाना, आर्य पुरुषों के लिये अच्छा नहीं है ॥ ६३ ॥

दृष्ट्वा च संसारमये महौघे मग्नं जगत्पारमविन्दमानम् ।
यश्चेदमुत्तारयितुं प्रवृत्तः कश्चिन्तयेत्तस्य तु पापमार्यः ॥ ६४ ॥

संसार रूप महा बाढ़ (प्रवाह) में डूबे हुए जगत् को पार न पाता हुआ देखकर, जो उसके उद्धार करने में प्रवृत्त हो, उसके प्रति पाप कर्म करने का विचार कौन आर्य पुरुष करेगा ॥ ६४ ॥

क्षमाशिफो धैर्यविगाढमूलश्चारित्रपुष्पः स्मृतिबुद्धिशाखः ।
ज्ञानद्रुमो धर्मफलप्रदाता नोत्पाटनं ह्यर्हति वर्धमानः ॥ ६५ ॥

क्षमा रूप जटा, धैर्य रूप मजबूत मूल, चरित्र रूप पुष्प स्मृति एवं बुद्धि रूप शाखा वाला तथा धर्म रूप फल देने के लिये बढ़ रहा 'ज्ञान वृक्ष' उखाड़ने योग्य नहीं है ॥ ६५ ॥

बद्धां दृढैश्चेतसि मोहपाशैर्यस्य प्रजां मोक्षयितुं मनीषा ।
तस्मिन् जिघांसा तव नोपपन्ना श्रान्ते जगद्बन्धनमोक्षहेतोः ॥६६॥

मनमें प्रबल मोह-पाशोंसे बंधी हुई प्रजा को छुड़ाना चाहते हैं। जगत् के बन्धन काट डालने के लिए उद्योग करने वाले उस मुनि को मार डालने की तुम्हारी इच्छा योग्य नहीं है ॥ ६६ ॥

बोधाय कर्माणि हि यान्यनेन कृतानि तेषां नियतोऽद्य कालः ।
स्थाने तथास्मिन्नुपविष्ट एष यथैव पूर्वे मुनयस्तथैव ॥ ६७ ॥

बोध पानेके लिये जिन कर्मों को इन्होंने किये हैं, उनका (सिद्ध होने का) यह नियत समय है। इस स्थान पर यह वैसा ही बैठा है जैसे पूर्व काल में मुनि बैठे थे ॥ ६७ ॥

एषा हि नाभिर्वसुधातलस्य कृत्स्नेन युक्ता परमेण धाम्ना ।
भूमेरतोऽन्योस्ति हि न प्रदेशो वेगं समाधेर्विषहेत योऽस्य ॥ ६८ ॥

क्योंकि यह स्थान भूतल की नाभि है एवं सम्पूर्ण श्रेष्ठ प्रभावों से युक्त है। पृथ्वी का दूसरा इस प्रकार का प्रदेश नहीं है जो इसकी समाधि का वेग सह सके ॥ ६८ ॥

तन्मा कृथाः शोकमुपेहि शान्तिं मा भून्महिम्ना तव मार मानः।
विश्रम्भितुं न क्षममध्रुवा श्रीश्चले पदे किं मदमभ्युपैषि ॥ ६९ ॥

अतः हे मार! शोक मत करो शान्ति प्राप्त करो। तुम्हें अपनी महिमा का अभिमान नहीं होना चाहिये। नश्वर ऐश्वर्य पर विश्वास करना योग्य नहीं है। अपने अनिश्चित पद पर क्यों मदमत्त हो रहे हो? ॥ ६९ ॥

ततः स संश्रुत्य च तस्य तद्वचो महामुनेः प्रेक्ष्य च निष्प्रकम्पताम्।
जगाम मारो विमना हतोद्यमः शरैर्जगच्चेतसि यैर्विहन्यते ॥ ७० ॥

तब उसका यह वचन सुनकर एवं महामुनि की अचलता देखकर, विफल प्रयास वाला 'मार', जिनसे संसार का चित्त वेध दिया जाता है, उन बाणों से खिन्न होकर चला गया ॥ ७० ॥

गतप्रहर्षा विफलीकृतश्रमा प्रविद्धपाषाणकडङ्गरद्रुमा।
दिशः प्रदुद्राव ततोऽस्य सा चमूर्हताश्रयेव द्विषता द्विषच्चमूः ॥ ७१ ॥

तब उसकी वह सेना, जिसका हर्ष क्षीण हो गया था, परिश्रम विफल हो गया था, पत्थर, आग-गोला वृक्षादि (आयुध) बिखर गये थे, विभिन्न दिशाओं में उसी प्रकार भाग गई जिस प्रकार शत्रु द्वारा नायक के मारे जाने पर विपक्षी सेना (भाग जाती है) ॥ ७१ ॥

द्रवति सपरिपक्षे निर्जिते पुष्पकेतौ जयति जिततमस्के नीरजस्के महर्षौ।
युवतिरिव सहसा द्यौश्चकाशे सचन्द्रा सुरभि च जलगर्भं पुष्पवर्षं पपात।

पुष्पकेतु (मार) के पराजित होकर अपने पक्षपातियों के साथ भाग जाने पर तथा तम (अन्धकार रूप अज्ञान) को जीतने वाले रागरहित

महर्षि की विजय होने पर, चन्द्रमा सहित आकाश हँसती हुई युवती के सदृश शोभित हुआ एवं सुगन्धित जल सहित पुष्पवृष्टि हुई ॥ ७२ ॥

तथापि पापीयसि निर्जिते गते दिशः प्रसेदुः प्रबभौ निशाकरः ।
दिवो निपेतुर्भुवि पुष्पवृष्टयो रराज योषेव विकल्मषा निशा ॥ ७३ ॥

इति श्री अश्वघोषकृते पूर्वबुद्धचरितमहाकाव्ये
मारविजयो नाम त्रयोदशः सर्गः ।

और उस प्रकार उस पापी के पराजित होकर चले जाने पर दिशायें निर्मल हुई, चन्द्रमा शोभित हुआ, आकाश से पृथ्वी पर पुष्प-वर्षा हुई एवं निष्पाप स्त्री की भाँति रात्रि सुन्दर हुई ॥ ७३ ॥

यह पूर्वबुद्धचरित महाकाव्य में मार की पराजय नामक
त्रयोदश सर्ग समाप्त हुआ ।

अथ चतुर्दशः सर्गः

बुद्धत्वप्राप्तिः

बुद्धत्व प्राप्ति

ततो मारबलं जित्वा धैर्येण च शमेन च।
परमार्थं विजिज्ञासुः स दध्यौ ध्यानकोविदः॥ १॥

इसके बाद उस ध्यान निपुण ने मार की सेना को धैर्य एवं शान्ति से जीतकर, परम तत्त्व जानने की इच्छा से ध्यान लगाया॥ १॥

सर्वेषु ध्यानविधिषु प्राप्य चैश्वर्यमुत्तमम्।
सस्मार प्रथमे यामे पूर्वजन्मपरंपराम्॥ २॥

तथा सब प्रकार की ध्यान विधियों में पूर्ण प्रभुता प्राप्त करके प्रथम प्रहर में अपने पूर्व जन्मों की परम्परा का स्मरण किया॥ २॥

अमुत्राहमयं नाम च्युतस्तस्मादिहागतः।
इति जन्मसहस्राणि सस्मारानुभवन्निव॥ ३॥

'अमुक स्थान में, मैं यह था, वहाँ से गिरकर यहाँ आया'—इस प्रकार हजारों जन्मों को मानो (प्रत्यक्ष) अनुभव करते हुए की तरह स्मरण किया॥३॥

स्मृत्वा जन्म च मृत्युं च तासु तासूपपत्तिषु।
ततः सत्त्वेषु कारुण्यं चकार करुणात्मकः॥ ४॥

तब उन उन जन्मों में जन्म एवं मृत्यु का स्मरण करके उस दयालु आत्मा ने प्राणियों पर दया की॥ ४॥

कृत्वेह स्वजनोत्सर्गं पुनरन्यत्र च क्रियाः।
अत्राणः खलु लोकोऽयं परिभ्रमति चक्रवत्॥ ५॥

(प्राणी) यहाँ स्वजनों को छोड़कर पुनः अन्यत्र (जन्म लेकर) कार्य करता है। निश्चय ही यह संसार अरक्षित है (जो कि) चक्र की भाँति घूम रहा है॥५॥

इत्येवं स्मरतस्तस्य बभूव नियतात्मनः ।
कदलीगर्भनिःसारः संसार इति निश्चयः ॥ ६ ॥

इस प्रकार चिन्तन करने वाले उस जितेन्द्रिय को यह निश्चय हुआ— संसार केले के गर्भ (भीतरी भाग) की तरह निःसार है ॥ ६ ॥

द्वितीये त्वागते यामे सोऽद्वितीयपराक्रमः ।
दिव्यं लेभे परं चक्षुः सर्वचक्षुष्मतां वरः ॥ ७ ॥

अद्वितीय पराक्रमी एवं समस्त दृष्टिमानों में श्रेष्ठ उस (मुनि) ने द्वितीम प्रहर आने पर परम दिव्य चक्षु पाया ॥ ७ ॥

ततस्तेन स दिव्येन परिशुद्धेन चक्षुषा ।
ददर्श निखिलं लोकमादर्श इव निर्मले ॥ ८ ॥

तब उसने उस सर्वथा शुद्ध दिव्य चक्षु से अखिल विश्व को देखा—जैसे निर्मल दर्पण में (प्रतिबिम्ब दिखाई देता है) ॥ ८ ॥

सत्त्वानां पश्यतस्तस्य निकृष्टोत्कृष्टकर्मणाम् ।
प्रच्युतिं चोपपत्तिं च ववृधे करुणात्मता ॥ ९ ॥

नीच, ऊँच कर्म करने वाले प्राणियों का पतन उत्थान देखते हुए उसकी दयालुता बढ़ी ॥ ९ ॥

इमे दुष्कृतकर्माणः प्राणिनो यान्ति दुर्गतिम् ।
इमेऽन्ये शुभकर्माणः प्रतिष्ठन्ते त्रिविष्टये ॥ १० ॥

ये दुष्कर्म करने वाले जीव दुर्गति पा रहे हैं। ये दूसरे शुभ कर्म करने वाले स्वर्ग में प्रतिष्ठित हो रहे हैं ॥ १० ॥

उपपन्नाः प्रतिभये नरके भृशदारुणे ।
अमी दुःखैर्बहुविधैः पीड्यन्ते कृपणं बत ॥ ११ ॥

ये (दुष्कर्मी) अति घोर भयानक नरक में पड़कर विविध दुःखों से 'बेचारे हाय' पीड़ित हो रहे हैं ॥ ११ ॥

पाय्यन्ते क्वथितं केचिदग्निवर्णमयोरसम् ।
आरोप्यन्ते रुवन्तोऽन्ये निष्टप्तस्तम्भमायसम् ॥ १२ ॥

कुछ को पिघले हुए लोहे-सा रस (तप्त द्रव) जो अग्नि के समान लाल है, पिलाया जा रहा है। कुछ दूसरे चिल्लाते हुए को तपे हुए लोहे के खम्भे से चिपकाया जा रहा है ॥ १२ ॥

पच्यन्ते पिष्टवत्केचिदयस्कुम्भीष्ववाङ्मुखाः ।
दह्यन्ते करुणं केचिद्दीप्तेष्वङ्गारराशिषु ॥ १३ ॥

लोहे के घड़ों में पीसे हुए अन्न की तरह अधोमुख कुछ जीव पकाये जा रहे हैं। कुछ करुण पुकार के साथ दहकते हुए अंगारों पर जलाए जाते हैं ॥ १३ ॥

केचित्तीक्ष्णैरयोदंष्ट्रैर्भक्ष्यन्ते दारुणैः श्वभिः ।
केचिद् धृष्टैरयस्तुण्डैर्वायसैरायसैरिव ॥ १४ ॥

कुछ को तीक्ष्ण लोहे के दाँतों वाले भयङ्कर कुत्ते खा रहे है। कुछ को लोहे की चोंच वाले ढीठ कौए जो कि मानो लोहे के ही हों, खा रहे हैं ॥१४॥

केचिद्दाहपरिश्रान्ताः शीतच्छायाभिकाङ्क्षिणः ।
असिपत्रवनं नीलं बद्धा इव विशन्त्यमी ॥ १५ ॥

कुछ ताप से संतप्त होकर शीतल छाया की अभिलाषा करते हैं, वे नीले नुकीले पत्ते वाले वन में बन्दी सदृश प्रवेश करते हैं ॥ १५ ॥

पाट्यन्ते दारुवत्केचित्कुठारैर्बद्धबाहवः ।
दुःखेऽपि न विपच्यन्ते कर्मभिर्धारितासवः ॥ १६ ॥

जिनके हाथ बँधे हैं—ऐसे कुछ (जीव) कुल्हाड़ी से लकड़ी सदृश काटे जा रहे हैं। दुःख में भी मरते नहीं हैं, कर्मों के द्वारा उनके प्राण पकड़े गये हैं ॥ १६ ॥

सुखं स्यादिति यत्कर्म कृतं दुःखनिवृत्तये ।
फलं तस्येदमवशैर्दुःखमेवोपभुज्यते ॥ १७ ॥

सुख मिलेगा, इस आशा से जो कर्म दुःख निवृत्ति के लिये इन्होंने किया था, उसका यह दुःखित फल ही वे बेचारे भोग रहे हैं ॥ १७ ॥

सुखार्थमशुभं कृत्वा ये एते भृशदुःखिताः ।
आस्वादः स किमेतेषां करोति सुखमण्वपि ॥ १८ ॥

जिस सुख के लिये ये अशुभ कर्म करके अत्यन्त दुःख भोग रहे हैं, वह (सुख का) आस्वाद, क्या इन्हें थोड़ा भी सुख दे रहा है ? ॥ १८ ॥

हसद्भिर्यत्कृतं कर्म कलुषं कलुषात्मभिः ।
एतत्परिणते काले क्रोशद्भिरनुभूयते ॥ १९ ॥

इन पापियों ने हँसते हुए जो पाप कर्म किये थे, परिपाक काल में उसका यह फल रोते हुए भोग रहे हैं ॥ १९ ॥

यद्येवं पापकर्माणः पश्येयुः कर्मणां फलम् ।
वमेयुरुष्ण रुधिरं मर्मस्वभिहता इव ॥ २० ॥

पाप करने वाले यदि (पाप) कर्मों का ऐसा फल (प्रत्यक्ष) देखें तो मर्मों में आघात होने की तरह गर्म खून का वमन करें ॥ २० ॥

इमेऽन्ये कर्मभिश्चित्रैश्चित्तविस्पन्दसंभवैः ।
तिर्यग्योनौ विचित्रायामुपपन्नास्तपस्विनः ॥ २१ ॥

ये दूसरे बेचारे, चित्त चाञ्चल्य से होने वाले विविध प्रकार के कर्म से चित्र-विचित्र पशु-पक्षि-योनियों में उत्पन्न हुए हैं ॥ २१ ॥

मांसत्वग्बालदन्तार्थं वैरादपि मदादपि ।
हन्यन्ते कृपणं यत्र बन्धूनां पश्यतामपि ॥ २२ ॥

जिन योनियों में मांस त्वचा बाल दाँत के लिये तथा वैर अथवा मद के कारण भी बन्धुओं के देखते रहने पर भी दीनतापूर्वक (बहेलियों आदि के द्वारा) मारे जाते हैं ॥ २२ ॥

अशक्नुवन्तोऽप्यवशाः क्षुत्तर्षश्रमपीडिताः ।
गोऽश्वभूताश्च वाह्यन्ते प्रतोदक्षतमूर्तयः ॥ २३ ॥

तथा बैल घोड़े होकर भूख, प्यास, परिश्रम से पीड़ित होते हुए, अशक्त होने पर भी अंकुशों से क्षत-विक्षत शरीर होकर हाँके जाते हैं ॥ २३ ॥

वाह्यन्ते गजभूताश्च बलीयांसोऽपि दुर्बलैः ।
अंकुशक्लिष्टमूर्धानस्ताडिताः पादपार्ष्णिभिः ॥ २४ ॥

और हाथी होकर बलवान् होने पर भी, दुर्बलों द्वारा अंकुशों से मस्तक पर क्लेश पाते हुए तथा पैरों की एड़ियों से ठोकर खाते हुए हाँके जाते हैं ॥ २४ ॥

सत्स्वप्यन्येषु दुःखेषु दुःखं यत्र विशेषतः ।
परस्परविरोधाच्च पराधीनतयैव च ॥ २५ ॥

यद्यपि अन्य अनेक दुःख हैं, किन्तु यहाँ (पशु-पक्षि योनियों में) परस्पर विरोध एवं पराधीनता के कारण विशेष दुःख है ॥ २५ ॥

खस्थाः खस्थैर्हि बाध्यन्ते जलस्था जलचारिभिः ।
स्थलस्थाः स्थलसंस्थैश्च प्राप्य चैवेतरेतरैः ॥ २६ ॥

नभचरों द्वारा नभचारी, जलचरों द्वारा जलचारी एवं स्थलचरों द्वारा स्थलचारी परस्पर सताये जाते हैं ॥ २६ ॥

उपपन्नास्तथा चेमे मात्सर्याक्रान्तचेतसः ।
पितृलोके निरालोके कृपणं भुञ्जते फलम् ॥ २७ ॥

तद्वत् ये मत्सरता दोष से दूषित चित्त वाले, आलोक रहित प्रेत लोक में उत्पन्न होकर दीन दशा में कर्म फल भोग रहे हैं ॥ २७ ॥

सूचीछिद्रोपममुखाः पर्वतोपमकुक्षयः ।
क्षुत्तर्षजनितैर्दुःखैः पीड्यन्ते दुःखभागिनः ॥ २८ ॥

सूई के छेद के बराबर मुख वाले, तथा पर्वताकार पेट वाले ये दुःख-भोगी, भूख प्यास से जनित दुखों से पीड़ित हैं ॥ २८ ॥

आशया समतिक्रान्ता धार्यमाणाः स्वकर्मभिः ।
लभन्ते न ह्यमी भोक्तुं प्रविद्धान्यशुचोन्यपि ॥ २९ ॥

अपने कर्म द्वारा ध्रियमाण ये (सूची मुख वाले) आशा से सदा आक्रान्त रहते हैं (तथा) गिरी हुई अपवित्र वस्तु भी नहीं खा पाते हैं ॥ २९ ॥

पुरुषो यदि जानीत मात्सर्यस्येदृशं फलम् ।
सर्वथा शिविवद्द्याच्छरीरावयवानपि ॥ ३० ॥

'मात्सर्य का फल ऐसा होता है'—यदि पुरुष यह जानता होता तो शिवि के समान अपने शरीर के अवयव भी सर्वथा दान कर देता ॥ ३० ॥

इमेऽन्ये नरकप्रख्ये गर्भसंज्ञेऽशुचिह्रदे ।
उपपन्ना मनुष्येषु दुःखमर्छन्ति जन्तवः ॥ ३१ ॥

ये दूसरे प्राणी, नरक सदृश 'गर्भ' नामक अपवित्र सरोवर में गिरकर मनुष्य (योनि) में दुःख पाते हैं ॥ ३१ ॥

गृह्यमाणाः करैरादौ कर्कशैर्जनलक्षणे ।
रुदन्ति शितशस्त्रैस्ते छिद्यमाना इवातुराः ॥ ३२ ॥*

जन्म के समय प्रारम्भ में (धाई आदि के) कर्कश हाथों से पकड़े जाने पर इस प्रकार विह्वल होकर रोते हैं मानो तीक्ष्ण शस्त्रों से छेदे जा रहे हों ॥३२॥

स्वजनैर्लालिताः पुष्टाः सम्यक्प्रेम्णा च वर्धिताः ।
तथापि विविधैर्दुःखैः क्लिश्यन्ते ते स्वकर्मभिः ॥ ३३ ॥

स्वजनों द्वारा बड़े प्रेम से लालन पालन किया जाता है, तो भी अपने कर्मानुसार विविध दुःखों से क्लेश पाते ही हैं ॥ ३३ ॥

इदं कार्यमिदं कार्यमित्येवं बहुतृष्णया ।
चिन्तोर्मिषु निमज्जन्ते वृद्धत्वे ते त्वहर्निशम् ॥ ३४ ॥

वृद्धावस्था में—'यह करना है', 'वह करना है'—इस प्रकार की अधिक तृष्णा के कारण निरन्तर चिन्तारूप तरंग में डूबते हैं ॥ ३४ ॥

कृतपुण्यचयाश्चान्ये गच्छन्ति त्रिदिवं ततः ।
कामज्वालासु दह्यन्ते यथा दीप्तेषु वह्निषु ॥ ३५ ॥

कुछ दूसरे—जिन्होंने पुण्य का संचय किया है—स्वर्ग को जाते हैं, किन्तु वहाँ काम की ज्वाला में ऐसे जलते हैं, जैसे प्रज्वलित अग्नि में ॥ ३५ ॥

---

*टिप्पणी—अश्वघोष कृत, बत्तीस से एक सौ बारह तक के मूल श्लोक अनुपलब्ध हैं । श्री सूर्यनारायण चौधरी कृत हिन्दी अनुवाद के आधार पर, इन श्लोकों की रचना रामचन्द्र दास शास्त्री ने की है ।

अतृप्तास्ते च कामेभ्यः पूर्वमेव पतन्त्यधः।
म्लानस्रजोऽतिशोकार्ता ऊर्ध्वेक्षणा हतप्रभाः ॥३६॥

और वे कामों से तृप्त होने के पहले ही नीचे गिरते हैं, उनकी आँखें ऊपर की ओर देखती हैं, वे निस्तेज एवं अत्यन्त शोकार्त हैं, उनकी मालायें कुम्हलायी होती हैं ॥ ३६ ॥

यदा पतन्ति तेऽनाथा दीना अप्सरसां प्रियाः।
कातरास्तास्तु वस्त्रेषु धृत्वा पश्यन्ति सस्पृहम् ॥ ३७ ॥

वे अप्सराओं के प्रिय जब अनाथ एवं दीन होकर गिरते हैं, तब वे (अप्सराएँ) कातर होकर उन्हें वस्त्रों में पकड़कर स्पृहा सहित देखती हैं ॥३७॥

पततस्तान् विमानेभ्यः प्रियान् पातुं समुद्यताः।
पतन्त्यस्ताश्च लक्ष्यन्ते त्रुटितास्तारका इव ॥ ३८ ॥

वे (अप्सराएँ) विमानों से गिरने वाले अपने प्रियतमों को बचाने के लिए उद्यत होकर गिरती हुई ऐसी लगती हैं, मानों ताराएँ टूटी हों ॥ ३८ ॥

चित्रस्रग्भूषणाः काश्चिद्विपद्ग्रस्तान् निजप्रियान्।
तत्रस्था ह्यनुगच्छन्ति केवलं साश्रुदृष्टिभिः ॥ ३९ ॥

रंग विरंगी माला एवं भूषण पहिने कुछ अप्सराएँ विपत्तिग्रस्त अपने प्रेमियों को देखकर वहीं स्थित रहकर केवल अश्रुपूर्ण नेत्रों से अनुगमन करती हैं ॥ ३९ ॥

पततस्तान् प्रतिस्नेहादश्रुक्लिन्नानना भृशम्।
महाधिपीडिताश्चान्यास्ताडयन्ति करैरुरः ॥ ४० ॥

अन्य अप्सराएँ, गिरने वाले प्रेमियों के प्रति स्नेह के कारण अत्यन्त मानसिक पीडा से पीड़ित होकर हाथों से छाती पीटती हैं ॥ ४० ॥

पतन्तस्तेऽपि शोकार्ता हा चैत्ररथ हा प्रिये।
हा मन्दाकिनि हा मेरवित्ति दीना रुदन्त्यलम् ॥ ४१ ॥

वे (स्वर्गवासी) भी गिरते हुए, शोक से पीड़ित होकर, हा चैत्ररथ! हा प्रिये! हा मन्दाकिनि! हा मेरु!—इस प्रकार अत्यन्त दीन होकर रोते हैं ॥ ४१ ॥

एवं कष्टेन लब्धोऽपि देवलोको ह्यनिश्चितः।
दृश्यते क्षणिकश्चापि वियोगेन च दुःखदः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार कठिनाई से प्राप्त होने वाला वह देवलोक भी क्षणिक तथा अनिश्चित देखा जाता है तथा अवश्यम्भावी वियोग के कारण दुःखद है ॥ ४२ ॥

जगतो नियमो ह्येष स्वभावश्चाप्ययं ध्रुवः।
तथापि न जना अस्य रूपं पश्यन्ति तादृशम् ॥ ४३ ॥

जगत् का यह नियम है तथा ऐसा स्वभाव है तो भी लोग इसका उस प्रकार का रूप नहीं देखते हैं ॥ ४३ ॥

स्वर्गो जितेन्द्रियैर्यैश्च शाश्वतो हीति निश्चितः।
तेऽपि निपतिताश्चार्ता ध्वस्ताखिलमनोरथाः ॥ ४४ ॥

'स्वर्ग शाश्वत है'—ऐसा निश्चय करके जो जितेन्द्रिय लोग गये, उनके भी सब मनोरथ नष्ट हो गये और वे दुःखी होकर गिरे ॥ ४४ ॥

निरयेष्वार्तिबाहुल्यं मृगेषु भक्षणं मिथः।
प्रेतेषु क्षुत्पिपासा च तृष्णादुःखं नरेष्वलम् ॥ ४५ ॥

नरकों में बहुत पीड़ा है, पशुओं में परस्पर भक्षण होता है, प्रेतों में भूख प्यास होती है तथा मनुष्यों में तृष्णा का अत्यन्त दुःख है ॥ ४५ ॥

पुनर्जन्म पुनर्मृत्युरिह स्वर्गे च नारके।
सततं भ्रमतामित्थं जीवानां नास्ति वै सुखम् ॥ ४६ ॥

यहाँ, स्वर्ग में एवं नरक में बारम्बार जन्म लेना एवं मरना—इस प्रकार निरन्तर घूमने वाले जीवों को यथार्थ में सुख नहीं है ॥ ४६ ॥

निराधारं जगच्चक्रं तीव्रगत्या भ्रमत्यलम्।
तदायत्तस्तु जीवोऽयं श्रान्तिभूमिं न गच्छति ॥ ४७ ॥

यह संसार आधार रहित ही तीव्र गति से निरन्तर घूम रहा है, (उसमें) जीव चारों ओर से घिरा है तथा कभी शान्ति स्थान नहीं पाता है ॥ ४७ ॥

जीवलोकान् स पञ्चैवमपश्यद्दिव्यचक्षुषा।
न लेभे तेषु वै सारं रम्भास्तम्भोदरेष्विव ॥ ४८ ॥

इस प्रकार उसने दिव्य चक्षु से पाँच जीवलोकों को देखा, किन्तु उनमें केले के खम्भे के गर्भ के समान, सार नहीं देखा ॥ ४८ ॥

अर्धरात्रे व्यतीते तु जगत्तत्त्वबुभुत्सया।
अज्ञानागृह्य सत्वस्थो दध्यौ स ध्यानिनां वरः ॥४९॥

आधी रात व्यतीत होने पर ध्यानियों में श्रेष्ठ उसने, जगत्तत्व जानने के विचार से सत्त्व में स्थित होकर तथा इन्द्रियनिग्रह करके ध्यान किया ॥४९॥

अहो जीवा न कुत्रापि लभन्ते शर्म च स्थितिम्।
जायन्ते चैव जीर्यन्ते म्रियन्ते च पुनः पुनः ॥ ५० ॥

अहो! जीव कहीं भी न तो सुख पाते हैं और न स्थिरता। बारम्बार जन्म लेते हैं, बूढ़े होते हैं एवं मरते हैं ॥ ५० ॥

काममोहतमश्छन्ना दृष्टिर्लोकस्य वै ध्रुवम्।
महादुःखाद्विनिर्गन्तुं सन्मार्गं नानुपश्यति ॥ ५१ ॥

निश्चय ही मनुष्यों की दृष्टि काम मोह रूप तम से ढकी है, (इसीलिए) महादुःख से निकलने का सच्चा मार्ग नहीं दीखता ॥ ५१ ॥

अहो न खलु किञ्चैतद्यस्यास्तित्वं तु केवलम्।
जरामरणदुःखानां हेतुरेवेत्यचिन्तयत ॥ ५२ ॥

अहो! सच में यह क्या है? जिसका अस्तित्व केवल जरा-मृत्यु का कारण है—ऐसा सोचा ॥ ५२ ॥

सत्यस्यान्तः प्रविश्यासौ बुबुधे ज्ञानिनां वरः।
जन्मनः एव सद्भावाज्जरामृत्यू न चान्यथा ॥ ५३ ॥

ज्ञानियों में श्रेष्ठ उसने सत्य के अन्दर प्रवेश करके देखा—जन्म का होना ही जरा-मृत्यु का कारण है, अन्यथा नहीं है ॥ ५३ ॥

शिरोऽस्तित्वे शिरःपीडा सति वृक्षे च कर्तनम्।
इत्यन्तश्चक्षुषा सर्वं ददर्श मुनिसत्तमः ॥ ५४ ॥

शिर के रहते शिर की पीड़ा सम्भव है, वृक्ष होने पर वह कटता है—इस प्रकार मुनिसत्तम ने अन्तश्चक्षु के द्वारा सब कुछ देखा ॥ ५४ ॥

जन्मनः कारणं किं स्यादिति चिन्तापरो मुनिः ।
ततः कर्म भवञ्चैव निदानं दृष्टवानसौ ॥ ५५ ॥

जन्म का कारण क्या हो सकता है ?—इस विषय में मुनि ने चिन्तन किया । तब कर्म-भव को ही उसने मूल कारण देखा ॥५५॥

कर्मणैव प्रवृत्तिर्हि दृष्टा तेनान्तरात्मना ।
न प्रकृत्या न कर्त्रा च नाभावेन न चात्मना ॥ ५६ ॥

उसने अन्तरात्मा से कर्म से ही प्रवृत्ति देखी—न प्रकृति से, न कर्त्ता से, न अभाव से और न आत्मा से ॥ ५६ ॥

वंशस्य प्रथमे छिन्ने पर्वणि युक्तितस्ततः ।
शेषं तु सुकरं तद्वज्ज्ञानं तस्याप्यवर्धत ॥ ५७ ॥

बाँस का पहला पोर युक्ति से छेद देने पर शेष सब (पोर) सरलता से छिद जाते हैं, इसी प्रकार (जन्म के मूल कारण का ज्ञान हो जाने पर) उस (मुनि) का ज्ञान बढ़ा ॥ ५७ ॥

ततो दध्यौ भवस्यास्य कारणं यत्नवान् मुनिः ।
उपादाने ददर्शासौ निहितं भवकारणम् ॥ ५८ ॥

तब मुनि ने इस भव के कारण का प्रयत्नपूर्वक ध्यान किया । उसने उपादान में भव के कारण को निहित देखा ॥ ५८ ॥

विविधं जीवनस्यात्र व्रतं शीलं च कर्म च ।
उपादानं तदेव स्यादिन्धनादनलो यथा ॥ ५९ ॥

इस लोक में जीवन के जो विविध व्रत, शील एवं कर्म हैं, वे ही उपादान हैं । जैसे ईन्धन से अनल होता है ॥ ५९ ॥

उपादानमिदं केन हेतुना चात्र जायते ।
इति चिन्तयता तेन तृष्णैव ददृशेपुरः ॥ ६० ॥

और इस लोक में यह उपादान किस कारण से उत्पन्न होता है? इस पर चिन्तन करते हुए उसने तृष्णा को ही पहले देखा ॥ ६० ॥

यथा वायुयुतो वह्निकणोऽरण्ये प्रवर्धते ।
तथा तृष्णायुतः कामः कर्मारण्ये विवर्धते ॥ ६१ ॥

जिस प्रकार वायु से युक्त होकर अग्नि का कण जंगल में फैल जाता है, उसी प्रकार तृष्णा से युक्त काम ही कर्मरूप जगल में बढ़ जाता है ॥ ६१ ॥

पुनर्दध्यौ स तृष्णैषा जायते केन हेतुना ।
ततो ध्यानपरः सम्यक् कारणं वेद वेदनाम् ॥ ६२ ॥

'तृष्णा किस कारण से उत्पन्न होती है?'—इस पर उसने पुनः ध्यान किया। तब अच्छी तरह ध्यानपरायण होकर उसने तृष्णा का कारण 'वेदना' को जाना ॥ ६२ ॥

तया चाकृष्टलोकोऽयं तृप्त्यर्थमनुधावति ।
पिपासाकुलितो लोको जलं वाञ्छति नान्यथा ॥ ६३ ॥

यह संसार वेदना से आकृष्ट होकर तृप्ति के लिए दौड़ता है। मनुष्य, प्यास से आकुल होकर ही जल चाहता है, अन्यथा नहीं ॥ ६३ ॥

पुनः स वेदनामूलं ज्ञातुं दध्यौ जितेन्द्रियः ।
स्पर्शेषु वेदनास्रोतो ददर्श वेदनान्तकः ॥ ६४ ॥

फिर उस जितेन्द्रिय ने वेदना का मूल (कारण) जानने के लिए ध्यान किया। तब वेदना का अन्त करने वाले उसने स्पर्शों में वेदना का उद्गम देखा ॥ ६४ ॥

अक्षवस्तुमनोयोगः स्पर्श इत्यभिधीयते ।
तस्माच्च वेदनोत्पत्तिररणेः पावको यथा ॥ ६५ ॥

इन्द्रियों, वस्तुओं एवं मन के संयोग को 'स्पर्श—ऐसा कहते हैं। उस (स्पर्श) से वेदना (संज्ञा या चेतना) की उत्पत्ति होती है, जैसे अरणि (मन्थन) से अग्नि उत्पन्न होती है ॥ ६५ ॥

पुनश्च ध्यायमानोऽसौ स्पर्शस्यापि हि कारणम् ।
जज्ञावायतनं षट्कं लोके लोकविदां वरः ॥ ६६ ॥

फिर 'स्पर्श का भी कारण क्या है ?' इस पर लोकवेत्ताओं में श्रेष्ठ उसने ध्यान में जाकर संसार में षड् आयतनों को स्पर्श का कारण जाना ॥ ६६ ॥

न पश्यति घटं ह्यन्धो यतो दृष्ट्या युतो न सः ।
अतो ह्यायतनेष्वेव सत्सु स्पर्शस्य संभवः ॥ ६७ ॥

अन्धा (मनुष्य) घट नहीं देखता है, क्योंकि दृष्टि से घट का संयोग नहीं है । अतः आयतनों के रहने पर ही स्पर्श का होना संभव है ॥ ६७ ॥

ततः षट्कस्य तत्त्वज्ञ आयतनस्य कारणम् ।
नामरूपे विवेदासौ चिन्तयन् सततं धिया ॥ ६८ ॥

तब उस तत्त्वज्ञ ने षड् आयतनों के कारण निरन्तर चिन्तन करते हुए ज्ञान के द्वारा नाम रूप को षड् आयतनों का कारण जाना ॥ ६८ ॥

अंकुरे सति पत्राणां शाखानां च समुद्गमः ।
आयतनोद्गमस्तद्वद्वै सतो नामरूपयोः ॥ ६९ ॥

अंकुर के रहने पर ही पत्रों एवं शाखाओं का उद्गम होता है । उसी प्रकार नाम रूप के रहने पर ही आयतनों का उद्गम होता है ॥ ६९ ॥

ततश्च स पुनर्दध्यौ कारणं नामरूपयोः ।
ज्ञानपारङ्गतोऽपश्यद्विज्ञानं मूलमास्थितम् ॥ ७० ॥

तब फिर नाम रूप के कारण का ध्यान किया । तब ज्ञान के पारंगत उसने विज्ञान को मूल में स्थित देखा ॥ ७० ॥

विज्ञानस्योदये नामरूपे संभवतो यतः ।
सम्यग्विकसिताद्बीजादंकुरोऽत्र विभाव्यते ॥ ७१ ॥

विज्ञान के उदय होने पर ही नाम रूप का उदय संभव है, क्योंकि बीज का सम्यक् विकास होने पर ही यहाँ अंकुर दीखता है ॥ ७१ ॥

विज्ञानं जायते कस्मादिति चिन्तयता पुनः ।
नामरूपे समाश्रित्य निर्गतं तेन वीक्षितम् ॥ ७२ ॥

'फिर विज्ञान (संज्ञा, चेतना) किससे उत्पन्न होता है ?'—ऐसा चिन्तन करते हुए उसने देखा कि वह विज्ञान, नाम रूप का आश्रय लेकर निकला हुआ है ॥ ७२ ॥

निमित्तस्य क्रमं ज्ञात्वा नैमित्तिकस्य वा पुनः ।
संचचार स्थिरं तत्र नान्यत्रास्य ययौ मनः ॥ ७३ ॥

निमित्त नैमित्तिक का क्रम जानकर उसका मन वहीं स्थिर होकर विचरने लगा । फिर कहीं नहीं गया ॥ ७३ ॥

विज्ञानं प्रत्ययो ह्यस्ति नामरूपोद्भवो यतः ।
नामरूपे तथाऽऽधारो विज्ञानञ्च यदाश्रितम् ॥ ७४ ॥

विज्ञान 'प्रत्यय' है, जिससे नाम रूप उत्पन्न होता है तथा नाम रूप 'आधार' है, जिस पर विज्ञान आश्रित है ॥ ७४ ॥

जले नयति नौर्मर्त्यं स्थलं नावं नरस्तथा ।
विज्ञानं नामरूपे च ह्यन्योन्यं कारणं मतम् ॥ ७५ ॥

जल में नौका मनुष्यों को ढोती है । स्थल में मनुष्य नौका को ढोते हैं। उसी तरह विज्ञान एवं नाम रूप को एक दूसरे का कारण माना गया है ॥७५॥

तृणं दहति तप्तायो ज्वलत्तत्तापयत्ययः ।
कार्यकारणसम्बन्धस्तयोस्तद्वत्परस्परम् ॥ ७६ ॥

तपा हुआ लोहा तृण को जलाता है, (तथा) जलता हुआ तृण लोहे को तपाता है । वैसे ही उन दोनों का परस्पर कार्य-कारण सम्बन्ध है ॥ ७६ ॥

विज्ञानाद्भवतो नामरूपे चायतनं ततः ।
ततः स्पर्श इति ध्यायञ्ज्ञौ तत्त्वविदां वरः ॥ ७७ ॥

तत्त्ववेत्ताओं में श्रेष्ठ उसने ध्यान करते हुए जाना कि विज्ञान से नाम रूप होते हैं, उन (नाम रूप) से आयतन, उस (आयतन) से स्पर्श होता है ॥ ७७ ॥

स्पर्शात्तु वेदनाजन्म ततस्तृष्णा प्रजायते ।
उपादानं ततस्तस्माज्ज्ञातस्तेन भवोद्भवः ॥ ७८ ॥

स्पर्श से वेदना, उस (वेदना) से तृष्णा, उससे (तृष्णा से) उपादान एवं उस (उपादान) से भव का उद्‌भव होता है—ऐसा उसने जाना ॥ ७८ ॥

भवाज्जन्म मतं तेन जरामृत्यू तु जन्मतः ।
सम्यग् ज्ञातस्ततस्तेन प्रत्ययेभ्यो भवोद्भवः ॥ ७९ ॥

तब उसने माना कि भव से जन्म होता है और जन्म से जरा मरण होते हैं। तब उसने अच्छी तरह जाना कि प्रत्ययों से भव उत्पन्न होता है ॥ ७९ ॥

जन्मनाशाज्जरामृत्य्वोर्निरोधो नान्यथा पुनः ।
जन्मनाशो भवे नष्ट इति सम्यग् विनिश्चितम् ॥ ८० ॥

जन्म के नाश से जरा मृत्यु का निरोध हो सकता है अन्यथा नहीं। फिर उसने अच्छी तरह निर्णय किया कि भव के नाश होने पर ही जन्म का नाश हो सकता है ॥ ८० ॥

उपादाननिरोधेन भवः संरुध्यते ध्रुवम् ।
इति ध्यानवतस्तस्य चान्तर्बोधोऽभ्यवर्धत ॥ ८१ ॥

उपादान के निरोध होने पर संसार निश्चित रूप से संरुद्ध होता है—इस प्रकार ध्यान करते हुए उसका अन्तर्बोध बढ़ गया ॥ ८१ ॥

तृष्णारोध उपादानं निरुद्धं भवति क्षणात् ।
वेदनायां विनष्टायां तृष्णास्तित्वं न विद्यते ॥ ८२ ॥

तृष्णा का निरोध होने पर उपादान का एक क्षण में ही निरोध हो जाता है और वेदना का विनाश होने पर तृष्णा का अस्तित्व नहीं रहता ॥ ८२ ॥

स्पर्शे नष्टे ततः सम्यग् वेदना नश्यति ध्रुवम् ।
षडायतनसन्नाशे स्पर्शश्चापि विलीयते ॥ ८३ ॥

स्पर्श के अच्छी प्रकार नष्ट होने पर, वेदना निश्चित रूप से नष्ट हो जाती है तथा षड् आयतनों के सम्यक् नाश होने पर स्पर्श विलीन हो जाता है ॥ ८३ ॥

नामरूपनिरोधे च षडायतनसंक्षयः ।
तथा विज्ञाननरोधे च नामरूपे विनश्यतः ॥ ८४ ॥

नाम रूप के निरोध होने पर षड् आयतनों का सम्यक् क्षय हो जाता है तथा विज्ञान के निरोध होने पर नाम रूप नष्ट हो जाते हैं ॥ ८४ ॥

संस्कारस्य निरोधेन विज्ञानं सन्निरुध्यते ।
इति चैकैकमन्योन्यं कारणं ज्ञातवान् मुनिः ॥ ८५ ॥

संस्कार के निरोध होने पर विज्ञान का निरोध हो जाता है—इस प्रकार मुनि ने एक-एक को दूसरे-दूसरे का कारण जाना ॥ ८५ ॥

अविद्यापगमे सम्यक् संस्कारः क्षीयतेऽखिलः ।
इति ज्ञेयं विदित्वाऽसौ बुद्धो भूत्वा विनिर्ययौ ॥ ८६ ॥

अविद्या का अपगम (अभाव) होने पर अच्छी तरह से सम्पूर्ण संस्कार क्षीण हो जाते हैं—इस प्रकार वह ज्ञेय को जानकर, बुद्ध होकर (ध्यान से) बाहर निकला ॥ ८६ ॥

नान्तर्बहिश्च लोकेषु त्वात्मानं दृष्टवान् क्वचित् ।
आष्टाङ्गिकेन मार्गेण परमां शान्तिमाययौ ॥ ८७ ॥

लोकों में बाहर भीतर कहीं आत्मा को नहीं देखा, (एवं) अष्टाङ्ग योग मार्ग से परम शान्ति पायी ॥ ८७ ॥

एष लब्धो मया मार्गः पूर्णो यस्मिन् महर्षयः ।
सत्यानृतविदश्चेरुः परार्थायेति निश्चितम् ॥ ८८ ॥

'यह मैंने पूर्ण मार्ग प्राप्त किया, जिस पर सत्य-अनृत को जानने वाले महर्षि गण परमार्थ के लिए चले थे,—ऐसा उसने निश्चय किया ॥ ८८ ॥

तुर्ययाम उषःकाले यदा शान्ताश्चराचराः ।
अविनाशिपदं ध्याता सर्वज्ञत्वञ्च प्राप्तवान् ॥ ८९ ॥

चतुर्थं प्रहर उषःकाल में जब कि चराचर शान्त था, उस ध्याता ने अविनाशी पद एवं सर्वज्ञत्व को प्राप्त किया ॥ ८९ ॥

बुद्धे तस्मिञ्जुघूर्णासौ धरा मत्तेव कामिनी ।
सिद्धैः सह दिशो दीप्ता नेदुर्दुन्दुभयो दिवि ॥ ९० ॥

जब वे बुद्ध हो गये तब मतवाली कामिनी को भाँति पृथ्वी घूमी, सिद्धों के साथ दिशाएँ दीप्त हुईं (तथा) आकाश में (देवताओं ने) नगाड़े बजाये ॥९०॥

अनभ्रा वृष्टयः पेतुः मन्दं वाता ववुः सुखाः ।
अकाले फलपुष्पाणि तस्मै वृक्षाश्च तत्यजुः ॥ ९१ ॥

बिना बादल के वर्षा हुई, मन्द सुखद पवन चले तथा वृक्षों ने अकाल में ही उसके लिए फल और पुष्प गिराये ॥ ६१ ॥

दिवः पेतुः सुवर्णानि माणिक्यादीनि वै तथा ।
मन्दारादीनि पुष्पाणि तैरापूर्णस्तदाश्रमः ॥ ९२ ॥

स्वर्ग से सुवर्ण तथा मणि-माणिक्य गिरे और मन्दार आदि (स्वर्गीय) पुष्प गिरे, जिनसे उनका आश्रम भर गया ॥ ९२ ॥

नासीत् क्रुद्धस्तदा कश्चिन्न रुग्णो न च पापकृत् ।
पूर्णताऽऽप्तमिवात्यर्थं जगच्छान्तं समाबभौ ॥ ९३ ॥

उस समय कोई कुपित नहीं था, न रोगी था और न पापकर्त्ता था । 'जगत् मानों अत्यन्त पूर्णता प्राप्त किया हो—ऐसा शान्त होकर शोभा पाया ॥ ९३ ॥

हृष्टा मोक्षार्थिनो देवास्तुष्टोऽधोलोकगोजनः ।
धर्मवृद्ध्याऽभितोऽज्ञानात्तमसो जगदुद्गतम् ॥ ९४ ॥

मोक्षार्थी देवता प्रसन्न हुए, नीचे के लोकों में रहने वाले लोग सन्तुष्ट हुए तथा चारों ओर से धर्म की वृद्धि होने से जगत् अज्ञानरूप अन्धकार से ऊपर उठा ॥ ९४ ॥

तुष्टा इक्ष्वाकुवंशर्षेः सिद्ध्या देवमहर्षयः ।
दिव्ययानजुषस्तस्य सम्मानाय समाययुः ॥ ९५ ॥

इक्ष्वाकु वंश के ऋषि की सिद्धि से सन्तुष्ट हुए देवता एवं महर्षि उसके सम्मान के लिए दिव्य विमान पर चढ़ कर आये ॥ ६५ ॥